कौन तुझको
भजते हैं?
ASG
R
१५
पालं - कौ

ओ३म्

असतो मा सद्गमय-तमसो मा ज्योतिर्गमय-मृत्योर्मामृतं गमय।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन का ४८वाँ पुष्प"

कौन तुझको भजते हैं?

लेखक-वेदरत्न, प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

भू०पू० उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उ०प्र०।

पता- वेदरत्न, प्रो० राम प्रसाद वेदालंकार, ५१२ वेद-सदन,
आर्यनगर, ज्वालापुर, जिला-हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)-पिन-249407
[CODE No. 0133-426095]

प्रकाशक-श्रीमती सरोज आर्या, अध्यक्ष "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन"
५१२, वेद-सदन, आर्यनगर, ज्वालापुर, जिला-हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

प्र० सं० ४०००, दयानन्दाब्द १७० वि० स

द्वि० सं० ४०००, दयानन्द १७३ वि० सम्

नोट:- पुस्तक विक्रेता आदि को श्रद्धा साहित्य प्रकाशन के लिय ७ रु० ५० पै० दान देकर भी यह पुस्तक प्राप्त की जा सकती है।

कौन तुझको भजते हैं?

RA

विषय-सूची

१५ वेदांत - कौं

नोट-श्रद्धा साहित्य प्रकाशन से सरल-सुबोध रूप में प्रकाशित होने वाला वैदिक साहित्य आप जैसे दानी महानुभावों के दान से प्रकाशित होता है और सुपात्रों को प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकाशन का उद्देश्य अर्थ कमाना नहीं, वरन् वैदिक साहित्य का प्रचार-प्रसार करना है।

जो महानुभाव इस सरल सुबोध वैदिक साहित्य को उपयोगी समझ कर मंगवाना चाहें और इसमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करना चाहें, वे कृपया लेखक या अध्यक्ष के व्यक्तिगत नाम, पते पर भेजें या पत्र व्यवहार करें। न्यून से न्यून २०० रुपये तक की दान या मासिक दान की राशि किसी एक पुस्तक की दान सूची में प्रकाशित की जायेगी, शेष फुटकर दान के रूप में। पुस्तकादि पर छपी हुई राशि भी श्रद्धा साहित्य प्रकाशन में दान देकर आप इस प्रकाशन के कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं।

नोटः- पुस्तक विक्रेता आदि को श्रद्धा साहित्य प्रकाशन के लिये ७.५० रुपये दान देकर भी यह पुस्तक ली जा सकती है।

भूमिका

वेद का स्वाध्याय करते-करते जब मैंने **"ईडते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः। हविष्यन्तो अरङ्कृतः। ऋ०१.१४.५॥"** इस मन्त्र का पाठ किया और इस पर मनन-चिन्तन किया, तो मुझे ज्ञात हुआ कि-वास्तव में कौन उस जगत् सम्राट परमेश्वर का भजन कर सकते हैं। यों तो प्रायः सभी मनुष्य किसी न किसी रूप में अपने आराध्य देव को भजते ही रहते हैं। पर यों भजन-स्तवन करते हुए भी वे प्रायः बाहर से प्रभु को और भीतर से जगत् और जगत् के पदार्थों को ही भजते-स्तुतते रहते हैं। पर इस मन्त्र में यह बताया गया है, और यह समझाया गया है कि-वास्तव में वे ही लोग उस प्राणप्रिय प्रभु को भज सकते हैं-उसका सचमुच स्तवन-गुणगान कर सकते हैं जो कि 'अवस्यु हों,' जो कि 'कण्व' हों, जो कि वृक्तबर्हिष हों, जो कि हविष्यमन्तें हों, जो कि अरङ्कृत हों। सो इस मन्त्र पर जो कुछ मैं सोच-विचार सका, वह मुझे कुछ अच्छा लगा और उस से मुझे कुछ अध्यात्म में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली। अतः दूसरों को भी लाभ हो सके इसलिये उस मन्त्र को "कौन तुझको भजते हैं या भज सकते हैं?" इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है? इसका प्रथम संस्करण बहुत ही शीघ्र समाप्त हो गया। पुनः स्वाध्याय प्रेमियों की चाहत को देखकर इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इसके स्वाध्याय से अध्यात्म प्रेमी महानुभावों को अपने जीवन में कुछ आगे बढ़ने और कुछ ऊपर उठने की प्रेरणा मिल सकी तो लेखक और प्रकाशक अपनी लेखनी और अर्थ को सार्थक समझेंगे।

विनीत-रामप्रसाद वेदालंकार

भू.पू. उपकुलपति गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

समर्पण

सेठी फाऊँडेशन (चैरीटेबल ट्रस्ट) एफ-११२, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली के द्वारा अपने पूज्या माता रामरखी एवं पूज्य पिता श्री विशनदासजी की स्मृति में प्रदान किये हुए मुख्य सहयोग से इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इसकी मांग और आवश्यकता को अनुभव कर 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' की ओर से जिस प्रभु क़ी अपार कृपा एवं पूज्य गुरुजनों के आशीर्वाद से मैं "कौन तुझको भजते हैं?" नामक पुस्तक का द्वितीय संस्करण तुम्हारे कर कमलों में प्रदान कर सका हूँ उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्प प्रयास समर्पित है।

कौन तुझको भजते हैं? कौन तेरी स्तुति करते हैं?

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तवर्हिषः । हविष्मन्तो अरङ्कृतः ।

ऋ० १.१४.५ ।।

अन्वयः—(हे प्रभो!) अवस्यवः कण्वासः वृक्तवर्हिषः हविष्मन्तः अरङ्कृतः त्वाम् ईडते ।

अर्थः— हे परमेश्वर! अवस्यु, कण्व, वृक्तवर्हिष, हविष्मन्त और अरङ्कृत तुझको भजते हैं, तेरी स्तुति करते हैं, तेरी उपासना करते हैं।

हे प्रकाशस्वरूप प्यारे प्रभुवर! (अवस्यवः कण्वासः वृक्तवर्हिषः हविष्मन्तः अरङ्कृतः त्वाम् ईडते ।) जो अवस्यु होते हैं, जो दिल से अपनी रक्षा—सुरक्षा के इच्छुक होते हैं, जो 'कण्व' होते हैं—मेधावी होते हैं—जो बुद्धिमान् होते हैं; जो कण—कण करके ज्ञान इकट्ठा करते हैं, जो 'वृक्तवर्हिष' होते हैं, जो (ब्रह्मयज्ञ वा देवयज्ञ आदि करने के लिये) बैठने को आसनार्थ दर्भ काटे हुए होते हैं, या जो ऋतु—ऋतु में यज्ञ करने वाले ऋत्विज होते हैं, या जिन्होंने अपनी हृदयगत वासनाओं को उखाड़ फैंका होता है; जो हविष्मन्त होते हैं—जो हवियों वाले होते हैं—जो हुताद होते हैं—सदा हवन करके खाने वाले होते हैं—सदा देके खाने वाले होते हैं—हमेशा

१. वृक्तवर्हिषः—आस्तरणार्थं छिन्नदर्भाः । वृक्तवर्हिषः ऋत्विजो भवन्ति । वृक्तवर्हिषः— (वृह उद्वृह उत्पाटने) या जिन्होंने अपनी हृदयगत वासनाओं को उखाड़ फैंका हो ।

खिला के खाने वाले होते हैं; जो अरङ्कृत–अलङ्कृत होते हैं– जो यज्ञ आदि शुभ कर्मों से अर्थात् नमस्कार, सत्कार सेवा शुश्रूषा, दान पुण्य आदि उत्तम कर्मों से अपने आपको सदा संवारते सजाते रहते हैं, या जो समय–समय पर अलम्–बस करते रहते हैं वा जो इतना पर्याप्त है–इतना काफी है, यह कहते रहते हैं, वे महानुभव तुझको भजते हैं, वे तेरी स्तुति करते हैं, वे तेरी श्रद्धा भक्ति और प्रेम से उपासना करते हैं–पूजा करते हैं वा कर सकते हैं।

'कौन तुझको भजते हैं–कौन तेरी स्तुति करते हैं–कौन तेरा गुणगान करते हैं?

उत्तरः–"अवस्यवः त्वाम् ईडते"– जो [1]अवस्युः' जो हृदय से अपनी रक्षा चाहते हैं–जो पाप–तापों से, दुर्गण–दुर्व्यसनों से, अर्थात् पापों से और उनके आधार पर होने वाले ताप–सन्तापों से वा दुर्गुण–दुर्व्यसनों और उनके परिणाम स्वरूप होने वाले दुःख–दर्दों से, कष्ट–क्लेशों से अपने आपको बचाना चाहते हैं, वे महानुभाव तुझको भजते हैं–तेरी स्तुति प्रार्थना और उपासना करते हैं।

वास्तव में सच्चे उपासक होते ही वे हैं जो अपने आपको पापों से, अपराधों से सदा दूर रखना चाहते हैं। वे अपने आप को दिल से झूठ, छल–कपट–फरेब से, अनाचार–व्यभिचार आदि

---

१. अव रक्षण–गति–कान्ति–प्रीति–तृप्त्यवगम–प्रवेश–श्रवण–स्वाम्यर्थ–याचन–क्रियेच्छा–[illegible]–भाग–वृद्धिषु।

से बचाना चाहते हैं और अपने आपको सरल–निश्छल स्वच्छ निर्मल बनाए रखना चाहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि सब प्रकार से जो प्रकाश स्वरूप परमपिता परमेश्वर स्वयं पवित्र है, वह भला अपने उपासक को–अपने भक्त को मलिन पापी अपराधी कैसे रहने देगा! अतः वे उसकी उपासना करते हैं, उसका गुणगान करते हैं, उसकी आराधना करते हैं, तथा दिल से बुराइयों से अपने आपको बचाने के लिए वेदमन्त्रों के द्वारा उससे प्रार्थना भी करते हैं। जैसे–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।।यजु० ३०.३।।

(सवितः देव! विश्वानि दुरितानि परासुव। यत् भद्रं, तत् नः आसुव) हे सबको उत्पन्न करने वाले, दिव्यगुणों के धनी परमेश्वर! तू हमारे सब दुरितों अर्थात् दुर्गुण–दुर्व्यसनों को दूर कर और जो भद्र है–सुखकर और हितकर है, वह हमें प्राप्त करा। अन्यत्र भी–

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।। यजु० ४०.१६।।

हे प्रभुवर! (अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि) तू हमसे कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को दूर कर जिससे (ते यूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हम तेरी बहुविध स्तुति रूप प्रशंसा करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

सचमुच जो हृदय से अपने आप को इन दुरितों से बचाना चाहते हैं ऐसे 'अवस्यु' साधक तेरी स्तुति करते हैं, तेरा भजन करते हैं, तेरी आराधना करते हैं। क्योंकि तेरे संग से वे सहज

ही तुझ सम पवित्र हो जायेंगे, धुल–धुल कर साफ–सुथरे हो जायेंगे।

साधक भी जो तुझ को भजते हैं, तेरी उपासना करते हैं, वे स्वयं भी अपने आपको सदा दुरितों से, झूठ छल कपट आदि से पृथक् रखने का हार्दिक प्रयास करते हैं। क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि "सत्यहीना वृथा पूजा..." जिन साधकों के जीवन में सत्य नहीं होता है, पवित्रता नहीं होती है, ईमानदारी नहीं होती है, छल कपट से जिनका जीवन सदा ओत–प्रोत रहता है, उनकी पूजा व्यर्थ होती है, उनकी उपासना की कोई कीमत नहीं रहती। अतः जो तुझको उपासते हैं, जो तेरा भजन–पूजन करते हैं, वे दिल से अपने आपको छल कपट झूठ आदि से सदा बचा के रखते हैं। उन्हें यह भी ज्ञात है कि उनका आराध्यदेव अग्नि स्वरूप है–प्रकाश स्वरूप है, हर दृष्टि से वह (अग्निः पवित्रमुच्यते) पवित्र है। तो फिर यदि उसके भक्त साधक पवित्र नहीं होंगे, सच्चे–सुच्चे, निर्मल–स्वच्छ नहीं होंगे, तो फिर कैसे वे उसको भायेंगे, कैसे वे उसके स्नेह और आशीर्वाद के पात्र बनेंगे। इसलिये यह सब सोच–समझ कर ही ये 'अवस्यु' साधक पाप–तापों से अपने को परे रखते हुए तेरी उपासना करते हैं, तेरा भजन–पूजन करते हैं।

अव धातु का दूसरा अर्थ है–गति अर्थात् ज्ञान गमन प्राप्ति। तो इस प्रकार से इस दृष्टि से 'अवस्यवः त्वाम् ईडते' का अर्थ हुआ–जो 'अवस्यु' जो साधक अपने जीवन में विशेष गति चाहते

हैं, वे तेरी उपासना करते हैं। सचमुच जो तेरे सच्चे उपासक होते हैं–वे तुझसे उत्साह पाकर इतने गतिमान् हो जाते हैं, इतने एक्टिव (*ACTIVE*) हो जाते हैं कि फिर वे ऋषिवर दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी आदि के समान जग में कुछ ऐसे अच्छे से अच्छे कार्य कर गुज़रते हैं जो कि देखने सुनने योग्य होते हैं।

ये 'अवस्यव–ये सच्चे साधक गति (गति=ज्ञान–गमन–प्राप्ति) अर्थात् अपने जीवन में जब ज्ञान विशेष चाहते हैं तो ये तेरी स्तुति–प्रार्थना–उपासना करते हैं। यों यह सामान्य ज्ञान तो किसी अध्यापक, उपाध्याय वा आचार्य आदि की शरण में बैठकर भी प्राप्त किया जा सकता है। पर ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप प्रभु की शरण में श्रद्धा–भक्ति से बैठकर जो ज्ञान का आलोक प्राप्त होता है, वह तो एक दम साधक के हृदय को आलोकित कर देता है, प्रकाशमान कर देता है। उस ज्ञान के आधार पर फिर वह जो भी कुछ करता है, वह बड़ा ही दिव्य होता है और आत्मा को तृप्त करने वाला होता है।

"अवस्यवः त्वाम् ईडते" जो अवस्यु–साधक गति अर्थात् अपने जीवन में ज्ञान विशेष ही नहीं चाहते वरन् 'गति–गमन' अर्थात् अपने आचारण को भी विशेष देखना चाहते हैं, वे तेरी उपासना करते हैं। वस्तुतः जो श्रद्धा भक्ति से तेरी पूजा करते हैं, तेरी उपासना करते हैं, जो प्रतिदिन प्रातः सायं तेरे समीप बैठते हैं, निःसन्देह तेरे समीप बैठते–बैठते, तेरे संग में रहते–रहते उनके

आहार बदल जाते हैं, उनके व्यवहार बदल जाते हैं। अर्थात् उनके रहन–सहन, खान–पान, बोल–चाल, बैठने–उठने, सोने जागने, पहनने–ओढ़ने आदि में एक अनोखापन आ जाता है, उनके स्वभावों में सोम्यता सरलता निश्छलता पवित्रता निःस्वार्थता और दिव्यता आ जाती है। तब उनके जीवनों का कुछ रंग–ढंग ही ऐसा निराला और आला (बढ़िया–अद्वितीय) बन जाता है कि फिर वह देखते ही बनता है।

'अवस्युः त्वाम् ईडते' जो अवस्यु–साधक गति अर्थात् अपने जीवन में केवल ज्ञान विशेष ही नहीं चाहते, वरन् जो अपने जीवन में कुछ विशेष पाना भी चाहते हैं, कुछ विशेष उपलब्ध करना भी चाहते हैं, तभी तो वे 'अवस्यु' बनकर तेरी स्तुति करते हैं, तेरा गुणगान करते हैं। यह दाल–रोटी, यह कढ़ी–चावल, यह घी–बूरा, ये फल–फूल, ये कपड़े–लत्ते, ये मकान–दुकानें, ये कार–कोठियाँ, ये धन–वैभव, ये स्त्री–पुत्र, ये पुत्र–पौत्र, ये दुहितृ–दोहित्र आदि–आदि तो प्रायः सब को मिल जाते हैं, पर जो इन सबसे कुछ ऊपर उठकर कुछ विशेष पाना चाहते हैं, वे तेरी स्तुति करते हैं, उपासना करते हैं। सामान्य जन तो इन सब वैभवों को, ऊंची–ऊंची उपाधियों को, ऊंचे–ऊंचे पदों एवं प्रतिष्ठाओं को पाने के लिये तेरी आराधना करते हैं, उपासना करते हैं। पर जो महान् पुरुष होते हैं वे इन सब की अपेक्षा कुछ और विशेष चाहते हैं। वे अद्वितीय सुख–शान्ति, पवित्रता निश्छलता और कुछ दिव्यता अपने में चाहते हैं। इसलिये ऐसे व्यक्ति फिर

अगर अपने इस जीवन में ऊंची–ऊंची उपाधियाँ और ऊंचे–ऊंचे पद आदि भी चाहते हैं, तो भी उन्हें सुपथ से अर्थात् अत्यन्त पवित्रता से–अत्यन्त ईमानदारी से प्राप्त करना चाहते हैं। वे इन सब चीजों को बेईमानी से अथवा उपधा–रिश्वत आदि से नहीं प्राप्त क़रना चाहते। जैसे किसी इन्टर्व्यू–साक्षात्कार में किन्हीं ने किसी ऐसे व्यक्ति से कहा कि– "तुम्हारे प्रतिद्वन्दी ने अर्थ–धन आदि के बल पर एक ऐसी उपाधि प्राप्त की है जो कभी तुम्हें मात दे सकती है। अतः तुम भी उस संस्था से कुछ रुपया लगाकर उस उपाधि को प्राप्त कर लो...!" इस पर बड़ी हार्दिक टीस के साथ वह व्यक्ति बोला– कि ऐसी उपाधि सहस्र रुपया देकर लेनी तो बहुत दूर की बात रही, यदि कोई सहस्र रुपया साथ देकर भी वह उपाधि मुझे दे, तो भी मैं उसको नहीं लूंगा। मुझे तो वह एक ही डिग्री पर्याप्त है जिसको मैंने पूर्ण पुरुषार्थ और पवित्रता से अर्जित किया है।

ऐसे व्यक्ति के पास उपाधियाँ भले ही कम हों, धन–वैभव भी भले ही कुछ विशेष न हो, पद प्रतिष्ठाएं भी भले चाहे औरों की तरह न हों, पर इतना अवश्य होगा कि जो उसको उपलब्ध हुआ होगा, जो उसको प्राप्त हुआ होगा, वह होगा उस प्राणप्रिय प्रभु की पवित्र प्रेरणा और अत्यन्त पवित्र एवं ईमानदारी पूर्वक। फिर यह भी सम्भव है कि गलत ढंग से प्राप्त हुई उपाधि वा धन–वैभव आदि के कारण सदा उस व्यक्ति के हृदय में भय शंका और लज्जा का अनुभव भी होता रहे। पर जो दूसरा होगा उसकी

अपनी सामान्य सी उपाधि, साधारण से पद और सामान्य से धन–वैभव में भी उसको जो प्रसन्नता, जो खुशी होगी, वह कठिनाई से कहीं अन्यत्र होगी।

अव धातु का अगला अर्थ है 'कान्ति–आभा, प्रभा। इसलिये जो अपने जीवन में कान्ति–आभा–प्रभा चाहते हैं, ऐसे "अवस्यवः त्वाम् ईडते" अवस्यु–साधक तेरी स्तुति करते हैं–तेरी उपासना करते हैं–तेरा गुणगान करते हैं। इस प्रकार साधक जग्निस्वरूप, प्रकाशरूप प्रभु के जितने–जितने समीप होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करते हैं, उतने–उतने वे पवित्र निश्छल सरल सोम्य होते जाते हैं। उतनी उतनी उनकी कान्ति आभा प्रभा निखरती रहती है।

अव धातु का अगला अर्थ है 'प्रीति'। जो साधक अपने जीवन में प्रीति चाहते हैं, वे भी अवस्यु बनकर दिल से प्रीति–प्यार चाहते हुए तेरी उपासना करते हैं। यों प्रीति–स्नेह–प्यार–दुलार तो उन्हें इस संसार में भी मिलता है, पर जो प्रीति–स्नेह प्यार दुलार प्रभु से मिलता है, वह भला अन्यत्र कहाँ मिल सकता है। इसलिये ऐसे अवस्यु–साधक श्रद्धा–भक्ति और प्रेम से तेरी स्तुति करते हैं–तेरी उपासना करते हैं–तेरी आराधना करते हैं।

अव धातु का अगला अर्थ है–'तृप्ति'। जो व्यक्ति इस क्षणभङ्गुर संसार में अपने को तृप्त करने के लिये अहर्निश इधर से उधर और उधर से इधर दौड़–भाग करते रहते हैं और इसके लिये स्त्री–पुत्र–पौत्रों और नानाविध पदार्थों को प्राप्त करने का

जी जान से प्रयास करते हैं। उन्हीं के जीवन का यह अनुभव है कि– "अपने जीवन में ये सब कुछ पर्याप्त रूप से प्राप्त कर लेने–पर्याप्त रूप में देख–सुन और भोग लेने पर भी हमें इससे तृप्ति नहीं मिली।" वे सब आप भी इसी तृप्ति के लिये दर–दर की खाक छान रहे हैं। पर आखिर वे भी सब ओर से निराश हताश होकर अन्त में तेरे दर पर आकर तुझको ही भजते–उपासते और ध्याते हैं, यह विचार कर कि इस द्वार पर आकर हम सब प्रकार से तृप्त हो जायेंगे।

अव धातु का अगला अर्थ है 'अवगम' अर्थात् जानना। जो किन्हीं विशेष रहस्यों को जानना चाहते हैं। उन रहस्यों को, जिन को जानना कहीं अन्यत्र सहज नहीं वा सम्भव नहीं है, ऐसे 'अवस्यु' तुझको भजते हैं–उपासते हैं। इससे उनके संशय मिटते हैं और पाप छुटते हैं और साधना के मार्ग खुलते वा प्रशस्त होते हैं। जैसा किसी कवि ने भी कहा है।

"संशयों का नाश होता पाप के बन्धन कटें।
साधना का मार्ग मिलता आत्मिक उत्थान में।"

अव धातु का अगला अर्थ है 'प्रवेश'। जो साधक आत्मा–परमात्मा में, इनके बोध में–इनके ज्ञान में अपना प्रवेश चाहते हैं, वे 'अवस्यवः त्वाम् ईडते' सच्चे साधक तुझको उपासते, आराधते और साधते हैं।

अगला अर्थ है 'श्रवण–सुनना। जो इस दुनिया में बहुत कुछ (देख) सुनकर भी उसके विषय में कुछ नहीं (देख) सुन पाए,

जिसके विषय में कुछ (देखने) सुनने के उपरान्त फिर कुछ और (देखने) सुनने को शेष नहीं रह जाता। इसलिये 'अवस्यवः त्वाम् ईडते, अवस्यु साधक तेरे विषय में बहुत कुछ सुनना चाहते हैं श्रद्धा–भक्ति से तेरी स्तुति करना चाहते हैं–तेरा भजन करना चाहते हैं।

अगला अर्थ है– 'स्वाम्यर्थ'–स्वामित्व। जो स्वामित्व चाहते हैं, अपने शरीर, मन और इन्द्रियों पर अपना अधिकार चाहते हैं–अपना नियन्त्रण–कन्ट्रोल चाहते हैं, ऐसे व्यक्ति तुझ को भजते हैं। वे कहते हैं–"हे प्रभुवर! तू ब्रह्माण्ड का अधिपति होकर सब जग को अपने कन्ट्रोल में अपने नियन्त्रण में रखे हुए है और हम अपने इस पिण्ड में भी अपनी इन मन, बुद्धि आदि और इन ज्ञानेन्द्रियों–कर्मेन्द्रियों रूप इन्द्रियों को ही अपने कन्ट्रोल–नियन्त्रण में नहीं रख पा रहे हैं। वेद के शब्दों में भक्त भगवान् से कहता है–

वि में कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये।।ऋ०६.९.६।।

अर्थः (मे कर्णा विपतयतः) मेरे कान भान्ति–भन्ति के स्वर तानों को सुनने चले जाते हैं, (चक्षुः वि–) मेरी चक्षु–आँख–दृष्टि भी नानाविध रूपों को देखने चली जाती है, (इदं ज्योतिः यत् हृदये आहितं वि–) यह ज्योति भी जो हृदय में निहित है, वह नानाविध वासनाओं में चली जाती है, (मे मनः दूरे आधीः विचरति) मेरा मन दूर–दूर के विचारों में विचर रहा है, ऐसी स्थिति में (किं स्विद्

वक्ष्यामि) क्या तो मैं कहूँ और (किम् उ नु मनिष्ये) क्या ही मैं मनन करूँ? अर्थात् ऐसी परिस्थिति में जब कि मेरी इन्द्रियाँ मेरे वश में न होकर कहीं की कहीं जा रही हैं और मेरा मन कुछ का कुछ सोचता रहता है, तो फिर भला मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं ऐसा बनूँगा, और ऐसा बनने के लिये ऐसे–ऐसे सोच–विचार करूँगा।

तो इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार भी उपासक–भक्त कहते हैं कि–"हे प्यारे परमेश्वर! हमारे इस पिण्ड में रहने वाले ये श्रोत्र कुछ का कुछ सुनने को भाग खड़े होते हैं, और नेत्र कुछ का कुछ देखने के लिए उद्यत हो जाते हैं, दूर–दूर के विचारों में निमग्न रहने वाला यह मन भी कहीं से कहीं भाग खड़ा होता है, और हृदय में निहित जो यह ज्योति है, यह अहंकार ममकार में आकर नानाविध वासनाओं में बहती रहती है। ऐसी स्थिति में हम कैसे कह सकेंगे कि हमें भविष्य में यह बनना है और ऐसा बनने के लिये हम ऐसा सोचते हैं वा ऐसी योजना बनाते हैं।

अपने इस पिण्ड में हमारा इन मन, इन्दियों को वश में करना तो दूर रहा, उल्टा ये ही हमें अपने वश में किये हुए बलात कहीं की कहीं घसीटे लिये जाती हैं और हमें वह सब कुछ भी दिखला देती हैं, जो कुछ कि हम देखना नहीं चाहते, हमें वह सब कुछ भी सुनवा देती हैं जो कुछ कि हम सुनना नहीं चाहते, हमसे वह सब कुछ भी खिलवा–पिलवा देती हैं, जो कुछ कि हम खाना–पीना नहीं चाहते, हमसे वह सब कुछ भी कहलवा–बुलवा देती हैं जो कुछ कि हम बिल्कुल भी कहना–बोलना नहीं चाहते, हम

सब से वह सब कुछ भी सुघँवा और छुवा देती हैं, जिसको कभी न हम सूँघना चाहते हैं और न ही हम छूना चाहते हैं, हमसे वह सब कुछ भी सुचवा और विचरवा लेती हैं जो सब कुछ कि कभी न हम सोचना चाहते हैं, न विचारना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि ये इन्द्रियाँ हम से वह सब कुछ करवा लेती हैं जो कभी करना तो दूर रहा, मन से भी हम सोचना नहीं चाहते। हे प्यारे प्रभुवर! जैसा तेरा इस ब्रह्माण्ड पर स्वामित्व है–अधिकार है, वैसा ही हमारा इस पिण्ड पर स्वामित्व हो–अधिकार हो। प्रभुदेव ! तू चक्रवर्ती राजा है हम क्षेत्रीय राजा हैं। तू ब्राह्माण्ड का राजा है हम इस पिण्ड के राजा हैं। पर तू सब प्रकार से सफल राजा है, हम असफल राजा हैं, तभी हम तेरी उपासना करते हैं–तेरा ध्यान भजन करते हैं ताकि तुझ महाराजाधिराज का सान्निद्ध्य पाकर तेरी भक्ति और शक्ति से, तेरी दिव्य प्रेरणा और अनुपम निर्देशन से एक दिन हम भी इस पिण्ड के सफल स्वामी बन सकें। इस प्रकार जो दिल से इस पिण्ड और इस पिण्ड की इन्द्रियरूप प्रजा को अपने नियन्त्रण में रख कर अपने उद्‌देश्य की ओर सफलता से अग्रसर होना चाहते हैं वे श्रद्धा भक्ति और प्रेम से तुझ को भजते हैं, तेरी उपासना करते हैं, तेरा ध्यान भजन करते हैं।

अगला अर्थ है याचना–माँगना। जो अवस्यु हैं–दिल से जो कुछ मांगना भी चाहते हैं, जिन्हें वास्तव में धन अन्न की ज़रूरत भी है, कपड़े लत्ते की आवश्यकता भी है, उन्हें अपनी दिव्य

भावनाओं को अंकित करने के लिये मसी, लेखनी और करगल–कागज आदि–आदि की अपेक्षा भी है, फिर भी स्वाभिमान के कारण वे मांगते नहीं। वे भी तेरी उपासना करते हैं, तुझे अपना सच्चा रक्षक–सच्चा पिता समझ कर तेरे समीप आकर तेरे सम्मुख अपनी आवश्यकता रख कर तुझ से तो मांग ही लेते हैं। परमपिता परमात्मन् ! वे यदि तुझ से भी नहीं मांगेंगे तो फिर और उनके सम्मुख ऐसा कौन सा द्वार है जहाँ वे अलख जगायेंगे। अब जब वे दूसरे किसी द्वार पर मांगने जाते ही नहीं हैं तो फिर वे तुझसे ही तो मांगेंगे और फिर तुझ कुबेर पिता के रहते हुए फिर भला वे अन्यत्र माँगने भी क्यों जायें। अब जब वे अन्यत्र मांगने जायेंगे ही, तो फिर वे जो भी कुछ चाहेंगे, जो भी कुछ याचना करेंगे, वे तेरे समीप आकर तेरे पास बैठ कर तुझ से ही चाहेंगे और तुझ से ही माँगेंगे। तब तू ही तो होता है जो उनकी हर उचित चाहना पूरी करता हुआ, उन्हें वह सब कुछ देता है जो कि उनको चाहिये होता है। नहीं–नहीं तेरा नाम तो 'भूरिदा' है। तू तो फिर एक बार जब सुपात्र को देख लेता है तो फिर तू उसे खूब देता है–बहुत देता है। इतना बहुत–इतना अधिक–इतना ज्यादा कि वह भी फिर यह कह उठता है कि– "भूरिदा! हे आनन्दघन प्रभुवर! मुझ चातक को तो तीन–चार बून्द पानी की ही प्यास थी, पर तू ने न जाने मेरी ही नहीं वरन् मेरे साथ–साथ अनेकों प्राणियों की प्यास बुझा दी, अनेकों प्राणियों की तृषा शान्त कर दी। अर्थात् तू ने मुझ चातक को ही नहीं, अनेकों पक्षियों को ही नहीं, अनेकों

भेड़–बकरियों, गौ–घोड़ों को ही नहीं, बड़े–बड़े शेर–चीते–हाथियों को ही नहीं–इन मनुष्यों को ही नहीं वरन् इन धरती–अन्तरिक्ष को ही तर–बतर कर दिया, तृप्त–परितृप्त कर दिया। तभी तो हे दीनानाथ! अवस्यवः त्वाम् ईडते, ये अवस्यु-दिल से तुझ से याचना करने वाले–हृदय से आप से ही माँगना चाहने वाले तेरी उपासना करते हैं, तेरी स्तुति करते हैं, श्रद्धा–भक्ति से भर कर तेरा गुणगान करते हैं, और तुझ से ही वह सब कुछ मांगते हैं जो कुछ कि उन्हें चाहिए होता है।

'अव' का अगला अर्थ है 'क्रिया'। जो अपने जीवन को क्रियाशील देखना चाहते हैं, जो अपने आप को एक्टिव–कर्मठ देखना चाहते हैं, जो अपने में विशेष हरकत देखना चाहते हैं और उसके परिणाम स्वरूप अपने में बरकत देखना चाहते हैं, वे 'अवस्यवः त्वाम् ईडते' अवस्यु–कर्मठता के इच्छुक साधक तुझको ही भजते हैं, तेरी ही उपासना करते हैं, ताकि वे भी तेरी तरह इस जगत् में कुछ ऐसा कर जाएं जो देखने, सुनने और प्रशंसा करने के योग्य हो।

'अव' का अगला अर्थ है 'इच्छा'। उन अवस्यु मनुष्यों में यदि कोई इच्छा विशेष होती भी है–कोई अभिलाषा विशेष होती भी है, तो वे उसकी पूर्ति के लिये तेरी उपासना करते हैं, तेरे समीप बैठकर तुझ से उसकी पूर्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। तेरे समीप बैठने से उनकी उस इच्छा में भी निखार उत्पन्न हो जाता है। उसमें यदि कहीं कोई गन्दगी वा मलिनता होती भी है, तो तुझ

अग्नि स्वरूप प्रभु में पड़कर वह कुन्दन बन जाती है। फिर वह उत्कृष्ट बनी हुई इच्छा पुरुषार्थ, प्रार्थना और तेरी अनुकम्पा से सहज पूर्ण भी हो जाती है। इसलिये जो अवस्यु होते हैं, जो इच्छा विशेष से युक्त होते हैं, ऐसे वे साधक–उपासक अपने जीवन की हर कठिनाई में, हर इच्छा में तेरा ही आश्रय लेते हैं। तू भी फिर उनकी भावना के अनुसार उनकी उन इच्छाओं को यथोचित रूप से पूर्ण भी कर देता है।

अगला अर्थ है दीप्ति–प्रकाश। जो अपने जीवन में दीप्ति प्रकाश–चान्दना चाहते हैं। वे तेरी स्तुति करते हैं, तेरी उपासना करते हैं। क्योंकि और कौन होगा जो उनके भीतर हृदय में विराजमान होकर उनके हृदयगत तम को मिटाकर उसमें प्रकाश कर सकेगा? इस प्रकार प्रभु की आराधना से जब मनुष्य का हृदय प्रकाशमान हो जायेगा–देदीप्यमान हो जायेगा, तो फिर इन इन्द्रिय रूप गवाक्षों–खिड़कियों से उसकी प्रतीति बाहर वाले दूसरे लोगों को भी होने लगेगी और वे भी सहज यह जान सकेंगे और कह सकेंगे कि अमुक व्यक्ति के भीतर–अन्दर प्रकाश हो गया है–चान्दना हो गया है। ऐसे जैसे हमारे इन प्रकोष्ठों–कमरों में विद्युत कन्द–बल्ब जल जाने पर खिड़कियों से बाहर वालों को भी प्रतीत होने लगता है कि यह प्रकोष्ठ–यह कमरा प्रकाश से प्रकाशमान है। हे प्रभुवर! इसी आशा और विश्वास से ही तो हम तेरे चरणों में उपस्थित होकर तेरी उपासना करते हैं–तेरी आराधना करते हैं कि कभी न कभी तो हमारा प्राणप्रिय प्रभु भी

अपनी दीप्ति से दीप्तिमान हुआ–हुआ हमारी इस अन्धेरी कुटिया को भी ऐसा देदीप्यमान कर देगा कि फिर हमारा भीतर तो प्रकाशमान होगा ही, पर बाहर भी इन इन्द्रियों रूप गवाक्षों से प्रकाश प्रतीत होगा।

अगला अर्थ है 'अवाप्ति– **"अवस्यवः त्वाम् ईळते"** अवस्यु इसलिये तुझको भजते हैं, क्योंकि इससे उनको कुछ अवाप्ति–प्राप्ति होती है। प्राप्ति भी वह जो अन्यत्र कहीं नहीं होती।

प्रभुवर! तेरे से जो मिलता है। वह अन्यत्र और कहाँ मिलता है। क्या कुछ तू हमें नहीं देता है? आज तक कोई भी ऐसा नहीं हुआ जो तेरे दिये हुए दो दियों–नेत्रों के बुझ जाने पर हमें नए दो दिये–दो नेत्र दे सका हो। कभी सहस्रों रुपये व्यय करने पर कोई नेत्र दे भी दे, तो भी वे उन नेत्र रूप दो दियों को दे पाते हैं जो दूसरों के तन रूप भवनों के ढह जाने पर वे नेत्र रूप दीपक कुछ बचे रह जाते हैं। ये डाक्टर उन टूटे हुए भवनों से–उन गिरे हुए भवनों से उन दीपकों–नेत्रों को उठाकर हमारे इस देह रूप भवन में रख देते हैं। तो भी हे नाथ! हम उनके चरणों में झुक–झुक कर उनका धन्यवाद करते हुए नहीं थकते। पर हे प्यारे प्रभुवर! वे नेत्र रूप दो दिये (दीपक) भी आखिर तेरे ही तो दिये हुए हैं। सो जो तुझ से अवाप्ति–प्राप्ति सम्भव है, वह भला और कहाँ से सम्भव हो सकती है। अतः अवस्यु–साधक तेरी अनुपम प्राप्तियों पर निहाल हुए–हुए इन डाक्टरों के चरणों में पड़–पड़ कर इनका इतना धन्यवाद नहीं करते जितना कि तेरे चरणों में पड़–पड़ कर

तेरा धन्यवाद और गुणानुवाद करते हैं।

अगला अर्थ है 'आलिंगन'। अवस्यः त्वाम् ईडते—अवस्यु—साधक तेरी उपासना करते हैं—तेरे समीप आते हैं। वे तेरा आलिंगन करना चाहते हैं, वे अपने दुःख—दर्दों को, कष्ट—क्लेशों को दूर करने को तेरी ओर दौड़ते हैं, वह भी इसलिये कि तू भी कभी प्रेम से उनको अपने दिल से लगा कर ऐसा प्यार दे—ऐसा दुलार दे, जैसे कि माँ दुःख से रोते—करलाते, अपनी ओर दौड़े चले आते हुए बालक को हृदय से लगा कर प्यार देती है और उसको तब एक दम ऐसी शान्ति मिल जाती है, ऐसी तृप्ति मिल जाती है कि जिसका वह बालक अनुभव तो कर सकता है पर मुख से वर्णन नहीं कर सकता। प्रभुवर! इसी आशा से ये साधक तेरी उपासना करते हैं—तेरी आराधना करते हैं।

अगला अर्थ है 'हिंसा'। जो साधक अपने उद्देश्य की ओर जब आगे बढ़ते हैं तो उनकी राह में बाधक आदि काम क्रोध लोभ मोह अहंकार आदि जो शत्रु आते हैं, वे उनको समाप्त कर आगे बढ़ना चाहते हैं। पर वे जब इस कार्य में सफल न हो कर उल्टा इनके चक्कर में आकर वह—वह कार्य कर डालते हैं कि जिन्हें वे कभी दिल से भी नहीं करना चाहते। तो फिर ऐसी स्थिति में वे उस प्रकाशस्वरूप प्रभु की शरण में जाकर उसकी कृपा से फिर वे उन पर हावी हो जाते हैं और उन्हें मार भगाकर सफलतापूर्वक अपने उद्देश्य की ओर आगे बढ़ निकलते हैं।

अगला अर्थ है 'दान'। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होते हैं।

इसलिये वे प्रायः अपने लिये ही सब प्रकार के पदार्थों का संग्रह करते रहते हैं। परन्तु कभी–कभी उनका मन करता है कि वे अपने धन–धान्य आदि में से औरों की भी सहायता करें। परन्तु स्वार्थ एवं राग–मोह के बन्धनों में पड़कर वे यह सब नहीं कर पाते। यों तो अन्तः प्रेरणा के कारण वे 'अवस्यवः त्वाम् ईडते'–अवस्यु दिल से दूसरों को कुछ न कुछ देना चाहते हैं, हृदय से दूसरों की कुछ न कुछ सेवा–सहायता करना चाहते हैं, और वे इसके लिये तुझ सबके परम दानी और परमसहायक प्रभु की उपासना भी करते हैं, स्तुति, प्रार्थना भी करते हैं कि किसी तरह तुझ महादानी–महान् सहायक के संग से उनमें भी यह भावना उत्पन्न होवे और तब वे भी तेरी तरह दान करते हुए भूखों को रोटी, प्यासों को पानी और नंगों को कपड़ा–लत्ता आदि देकर फूले न समाएँ। समचमुच प्रभुवर! तेरे संग से–तेरी प्रेरणा से जब वे ऐसा करते हैं तो फिर वे भीतर से प्रसन्न भी खूब होते हैं, क्योंकि यह सब करने पर तू उन्हें अन्दर ही अन्दर से उत्साह भी देता है और शाबाश भी खूब देता है तभी तो फिर सहसा उनके मुख से यह शब्द भी निकलने लगते हैं कि–"अरे हम तो समझते थे कि लेने में ही सुख–आनन्द मिलता है, खाने में ही तृप्ति मिलती है, पर यह तो हमें आज ही पता लगा कि जो सुख–आनन्द देने में है वह लेने में नहीं है, जो तृप्ति खिलाने से मिलती है वह खाने में नहीं मिलती। यही कारण है कि प्रभु सदा देता रहता है, सदा सब को खिलाता–पिलाता रहता है, सदा सबको पहनाता–ओढ़ाता

रहता है, तभी ही वह सदा आनन्दमय बना रहता है।

अगला अर्थ है 'भाग–हिस्सा'। जो "अवस्यु" हैं–दिल से इस जग में आकर अपना भाग–अपना हिस्सा चाहते हैं, मन से भी कभी दूसरे के भाग–हिस्से को ललचाई दृष्टि से नहीं देखना चाहते। दूसरों के भाग–हिस्से को अभिलाषा भरी दृष्टि से देखना तो दूर रहा, वे तो अपने भाग–हिस्से का भी सन्तोष पूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करना चाहते हैं। अपनी इस ऊँची वृत्ति को बनाने एवं बनाए रखने के लिये वे तेरा भजन करते हैं–तेरी उपासना करते हैं–तेरा श्रद्धा भक्ति से गुणगान करते हैं।

अव धातु का अन्तिम अर्थ है "वृद्धि"। जो अवस्यु होते हैं, वे दिल से अपनी वृद्धि चाहते हैं–अपनी तरक्की चाहते हैं–अपनी उन्नति चाहते हैं। वे इसके लिये जी–जान से पुरुषार्थ भी करते हैं, और पुरुषार्थ करते हुए उस प्राणप्रिय प्रभु से वे इसके लिये प्रार्थना भी करते हैं। पवित्रता एवं ईमानदारी से यह सब करने पर फिर उनका आराध्यदेव उनको बाह्य एवं आन्तरिक रूप से जो भी कुछ प्रदान करता है वे उसी में ही अपना अहोभाग्य मानकर उसी में ही सन्तुष्ट रहते हुए उस प्रभु का हृदय से गुणगान करते हुए उसका धन्यवाद करते रहते हैं।

अब भला जो अपनी रक्षा नहीं करना चाहते, अपने आपको इन पापों से, अपराधों से बचाना नहीं चाहते, और उल्टा उनमें दिल से प्रवृत्त होना चाहते हैं, अपने खान–पान, रहन–सहन, बात–चीत को सुधारने के बजाए उनको और भी अधिक विकृत

करना चाहते हैं, अर्थात् वे अण्डे मांस मछली आदि खाना चाहते हैं, बीड़ी सिगरेट शराब भांग चरस आदि पीना चाहते हैं, जुआ खेलना चाहते हैं, सदाचार को छोड़कर कदाचार में प्रवृत्त होना चाहते हैं, उन्हें इन सब कार्यों के करने के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है, अतः उसको प्राप्त करने के लिये फिर वे जो छल–कपट, धोखा–धड़ी करना चाहते हैं, चोरी–चकारी, लूट–पाट करना चाहते हैं, ऐसे 'अनवस्यु'– दिल से इन बुराइयों से अपनी रक्षा न करना चाहने वाले, उल्टा और अधिक इन बुराइयों में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति भला कैसे तेरी स्तुति कर सकते हैं– भला कैसे तेरी पूजा कर सकते हैं–भला कैसे तेरी उपासना कर सकते हैं–भला कैसे तेरे समीप बैठ सकते हैं–भला कैसे तेरा गुणगान कर सकते हैं? क्योंकि हे प्यारे प्रभुवर– तू तो इन सब बातों से उन्हें रोकता है, इन सबके करने पर उन्हें टोकता है, समय आने पर इन सबके लिये तू उन्हें भय, शंका और लज्जा से युक्त करता है, इसलिये वे तेरे समीप बैठ ही नहीं सकते, श्रद्धा भक्ति से तेरी स्तुति प्रार्थना और उपासना कर ही नहीं सकते। इसलिये वे सब तो उन्हीं के समीप बैठते हैं–उठते हैं, उन्हीं के साथ सदा रहते– सहते और खाते–पीते हैं जो इनकी हार्दिक इच्छाओं के अनुरूप इन्हें इन कर्मों में उत्साहित करते हैं। भले ही आगे चलकर इन्हें इन कर्मों के परिणामस्वरूप कितने भी दुःख क्यों न भोगने पड़ें, भले ही आगे चलकर समाज में इनको कितना ही शर्मिन्दा क्यों न होना पड़े..... । इसलिये इस मन्त्र के प्रथम चरण

के अनुसार यह कहा गया है कि ''ईडते त्वाम् अवस्यवः''—अवस्यवः त्वाम् ईडते''—जो 'अवस्यु' होते हैं—दिल से पाप—तापों से, तथा दुर्गण— दुर्व्यसनों से अपने को रक्षित—सुरक्षित रखना चाहते हैं, वे तुझको बड़ी श्रद्धा—भक्ति से पूजते हैं, वे बड़े ही प्रेमभाव से विभोर होकर तेरा गुणगान करते हैं, ताकि वे तेरी अपार अनुकम्पा एवं अपने हार्दिक पुरुषार्थ से इन सब दुरितों से बचकर जो भद्र है, जो कल्याण कारक है, उसी को अपना सकें और शनैः—शनैः उनको एक दिन जहाँ इस लोक में सुख—सौभाग्य मिल सके वहाँ परलोक में भी उनका सब प्रकार से भद्र हो सके, कल्याण हो सके।

इसी तरह जो अपनी गति प्रगति नहीं चाहते, जो अपने जीवन में न तो ज्ञान विशेष चाहते हैं, न आचरण विशेष—व्यवहार विशेष चाहते हैं, न ही उपलब्धि विशेष चाहते हैं, तो फिर भला वे सब तेरी उपासना कैसे कर सकते हैं, तेरी आराधना कैसे कर सकते हैं? फिर वे तुझ प्रभु से विशेष ज्ञान पाकर करेंगे भी क्या, जबकि वे इन सामान्य अध्यापकों, उपाध्यायों और गुरुओं या इन पुस्तकों, पत्र—पत्रिकाओं में उपलब्ध हुए सामान्य सुन्दर ज्ञान से भी अपनी आँखें बन्द रखनाा चाहते हैं। जैसे कि वे सिगरेट की डिब्बी पर लिखे हुए या उसके सम्बन्ध में लिखे हुए उन शब्दों की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहते, शराब सिगरेट चाय भांग चरस आदि के विषयों में उन शब्दों की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहते, जिनमें कि इन सब चीज़ों के लिये लिखा होता है कि—'ये सब चीज़ें

स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। अतः इन्हें सेवन नहीं करना चाहिये। वे तो इन चीज़ों के सम्बन्ध में भी तब उन वाक्यों को ही पढ़ना, देखना और सुनना चाहते हैं कि जिनसे इन सब पदार्थों के खाने पीने के लिये एक दम प्रेरणा मिलती है–इनके सेवन करने के लिये एक दम उत्साह बढ़ता है। जैसे कि कमाल की यह कैप्टन सिगरेट है कि जिसके एक ही कश में मजा आ जाता है। इसी तरह लिप्टन चाय के लिये लिप्टन की ताज़ा चाय जिसके एक घूंट में ही सारे शरीर में शक्ति का संचार हो जाता है। इसी तरह यह शराब भले ही मेंहगी है, पर इसके पीने में जो मज़ा आता है, जो चेहरे पर रौनक आती है, वह दूसरी शराबों के पीने से नहीं आ सकती.....।

ऐसे व्यक्तियों को तो न सात्विक भोजन भाते हैं, न ही सात्विक सीधा–सादा रहना–सहना ही उन्हें अच्छा लगता है, न ही उत्तम आचरण आदि उन्हें प्रिय लगता है। तो फिर भला वे सर्वोत्तम दिव्य प्रभु के समीप बैठेंगे भी क्यों, उसकी उपासना आराधना करेंगे भी क्यों? जिनको रजः प्रधान, तमः प्रधान व्यक्ति, भोजन और कर्म ही अच्छे लगते हैं तो फिर उन्हीं के पास ही वे बैठेंगे उठेंगे, और उन्हीं की तरह के भोजन और कार्य वे पसन्द करेंगे। इसलिये वे प्रभु की न तो उपासना करना चाहते हैं, न ही उसका भजन पूजन करना चाहते हैं।

उनको न तो फिर साधु सन्तों जैसी कान्ति–आभा–प्रभा चाहिये, न ही उन जैसी आकृति–प्रकृति चाहिये। उनको तो शराब

भांग चरस चाहिये, उनको तो सिगरेट बीड़ी पान चाहिये, उनको तो काम–क्रोध आदि की वृत्तियों से बनने वाली आकृति–प्रकृति चाहिये, तभी तो वे संग भी करते हैं तो ऐसे लोगों का, तभी तो वे बैठते उठते भी हैं, तो ऐसे ही लोगों के साथ। उनको भला फिर प्रभु प्यारे की उपासना क्या अच्छी लगेगी, और उसका गुणगान भी भला क्या भायेगा? क्योंकि वह प्रभुवर तो अपने उपासकों को इन सब बातों से–इन सब चीज़ों से बचाता है–रोकता है।

फिर उनको वह प्रीति और तृप्ति आदि भी नहीं चाहिये जो कि एक उपासक को–एक भक्त को अपने प्राणप्रिय प्रभु के सामीप्य से मिलती है। उपासकों ने तो ये सांसारिक सब प्रीतियाँ, तृप्तियाँ देखी सुनी वा किसी न किसी रूप में भोगी भी हैं। अतः वे अब इन क्षणिक प्रीति–तृप्तियों से रीझते नहीं। इसलिये उन्हें अब वह प्रीति–तृप्ति चाहिये जो स्थिर हो, जो टिकाऊ हो, और वह प्रीति–तृप्ति केवल प्रभु से ही मिल सकती है। अतः वे उसी की उपासना करते हैं, उसी का ही आश्रय लेते हैं। पर इन सब को तो वह प्रीति–प्यार चाहिये, वह तृप्ति चाहिये, जो संसार के भोगविलासों से मिलती है, मोह–ममता एवं काम लोभ आदि के झूलों में झूलते रहने से मिलती है। तो फिर ऐसे व्यक्ति भला क्यों उस प्यारे प्रभु की उपासना करेंगे या उसको पाने के लिये जप–तप करेंगे? ऐसे व्यक्ति यदि सामान्य सांसारिक गृहस्थों जैसे होंगे तो फिर वे स्त्री–पुत्रों में, दुहितृ–दौहित्रों में, धन–धान्यों में सदा

डूबे हुए रहेंगे, और अगर उनसे भी अधिक गए बीते होंगे, तो गन्दी नाली के कीड़ों के समान नाच रंग तमाशों एवं कुकर्मों में अपना तन मन धन बर्बाद कर रहे होंगे। क्योंकि उनको उन वारांगनाओं का प्यार और उनसे होने वाली तृप्ति ही चाहिये। ऐसे लोग भला कैसे 'अवस्यु' साधक बन कर उस प्रकाश स्वरूप प्रभु की आराधना कर सकते हैं?

ऐसे व्यक्तियों को न तो शास्त्र वा प्रभु का अवगम–बोध–ज्ञान चाहिये, न ही उसमें प्रवेश चाहिये, न ही उस विषय में कुछ श्रवण–सुनने को चाहिये, न ही उनको अपने तन–मन और इन्द्रियों पर स्वामित्व चाहिये, न ही उनको इन दिव्य गुण कर्म और स्वाभावों के लिये कुछ याचना प्रार्थना करनी है। क्योंकि उन्हें लगता है कि यह सब कुछ यदि प्रभु कृपा से उन्हें मिल भी जाए, तो यह सब कुछ उनकी विशेष उपलब्धि वा विशेष सौभाग्य नहीं होगा, वरन् वे समझते हैं कि यह सब कुछ मिल जाना तो उनके लिये दुर्भाग्य ही होगा। क्योंकि वे दिल से चाहते हैं कि उनके पास खाने–पीने–भोगने के पर्याप्त साधन हों, उनके पास सदा स्त्री–पुत्र–पौत्र, ज़मीन, जायदाद, कार–कोठियाँ, धन–धान्य आदि–आदि सदा बने रहें। वे इन्हीं सब वैभवों से अपने को धन्य–धन्य समझते हैं। बम्बई में एक सज्जन जिसकी आयु ७५ वर्ष की है। वह हर दृष्टि से सम्पन्न है। स्वास्थ्य भी उसका बहुत अच्छा है। पारिवारिक दृष्टि से भी पुत्र–पौत्रों, दृहितृ–दौहित्रों आदि से वह युक्त है। उसका कहना है कि "मैं तो साक्षात् स्वर्ग

में हूँ। मुझे बहुत ही सुख है। मैं बहुत ही खुश हूँ यह सब कुछ पाकर। इससे बढ़कर मुझे प्रभु से कुछ माँगने को समझ में ही नहीं आता.....।'' ऐसे व्यक्ति प्रायः सांसारिक ऐश्वर्यों और सम्पन्न घर–परिवारों को पाकर ही अपने उद्देश्य की इति–श्री मानते हैं। ऐसे लोग अपने जीवन में न कुछ ऐसा विशेष स्वाध्याय करना चाहते हैं, जो उनको कुछ और जीवन में ऊँचा उठाए वा आगे बढ़ाए, न ही उनकी कुछ विशेष दिव्य इच्छाएं होती हैं जिनके लिये वे प्रभु शरण में बैठकर बड़ी श्रद्धा–भक्ति से उसकी आराधना करें–साधना करें...।

ऐसे व्यक्तियों को न दीप्ति–आन्तरिक प्रकाश चाहिये, जो उनके हृदय के तम–अन्धकार को दूर करे, न ही उनको प्रभु की प्राप्ति चाहिये कि जिसके प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता है। न ही वे उस प्रभु को पाकर उसका आलिंगन–अद्वितीय प्यार चाहते हैं। उनको तो आन्तरिक प्रकाश नहीं बल्कि अविद्यान्धकार चाहिये जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदि पलते रहें। उनको प्रभु की प्राप्ति और उसके अद्वितीय प्यार की भी ज़रूरत नहीं है। उन्हें तो काम, मोह, लोभ आदि ही पर्याप्त हैं जिनमें विद्यमान रहते हुए वे अपने स्त्री–पुत्र–पौत्र–दौहित्र आदि को दिल से लगाकर स्नेह लाड–प्यार प्रदान कर सकें, और उनके साथ मिल बैठकर बात कर सकें, खा–पी सकें और पहन ओढ़कर आनन्द मना सकें। ये सब तो हे प्रभुवर! इन्हीं सब बातों में ही खुश हैं, इन्हीं में ही ये अद्वितीय

स्वर्ग का अनुभव करते हैं। तो फिर ऐसे लोग भला कैसे अवस्यु–सच्चे उपासक बनकर श्रद्धा भक्ति से तेरी उपासना कर सकेंगे? कहीं भूल–चूक से वे तेरी उपासना में बैठकर तेरे ध्यान भजन के लिये आँख कान मुख मून्द भी लेंगे, तो तब भी वे बाहर से भले ही शब्दों के रूप में तेरा गुणगान कर रहे होंगे, पर भीतर से इन सब का ध्यान तो उसी धन–वैभव और पुत्र कलत्रों आदि में ही उलझा हुआ होगा। अतः ऐसे लोग कहने को तो आपके समीप बैठे हुए दिखाई देंगे, पर भीतर से ये सब तेरे सें बहुत दूर पड़े हुए होंगे। इसलिये ऐसे लोग कैसे श्रद्धा भक्ति और प्रेम से तेरी उपासना भजन कर सकेंगे?

ऐसे लोग साधना में बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं की हिंसा नहीं करते, उनको समाप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, वरन् उनके काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार आदि में जो बाधक बनते हैं, उन्हीं की वे हिंसा करते हैं–उन्हीं को ही वे मारने एवं समाप्त करने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग भला कैसे उपासक बनकर तेरी आराधना कर सकते हैं?

जो लोग दान–पुण्य आदि शुभ कर्मों में प्ररेणा ही नहीं पाना चाहते, उल्टा औरों को लूटलाट कर, खा–पीकर मौज मारने की सोचते हैं, ऐसे लोग भला क्यों तेरी उपासना एवं स्तुति करेंगे?

ऐसे लोगों की वृद्धि–तरक्की–उन्नति का माप–दण्ड तो केवल बाह्य ही होता है–सिर्फ सन्तान, मकान, दुकान, कार, कोठी, रुपये–पैसे, चांदी–सोना आदि में समझा आता है। ज्ञान–विज्ञान,

सुख–शान्ति, स्नेह–सम्मान, यश–प्यार, सेवा–सत्संग, स्वाध्याय–साधना, भजन–कीर्तन, धारणा–ध्यान, जप–तप आदि को तो ये सब लोग कुछ समझते ही नहीं। यही कारण है कि वे अपनी वास्तविक उन्नति के महत्व को न समझते हुए, अर्थात् लौकिक–पारलौकिक, अभ्युदय–निःश्रेयस के महत्व को न समझते हुए अवस्यु–सच्चे साधक बन कर तेरी उपासना नहीं कर पाते, तेरी स्तुति–तेरा गुणगान नहीं कर पाते।

–o–

कण्वासः– "कण शब्दे" धातु से भी "कण्वाः" या 'कण्वासः' शब्द बनता है जिसका अर्थ है कि–जो स्तोत्र पाठों द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हुए नहीं अघाते– नहीं थकते, ऐसे मेधावी–ज्ञानी–विद्वान् तेरा भजन करते हैं।

अथर्ववेद में लिखा है–'कण्वा उकथेभिर्जरन्ते ।अ०२०.१८.१।" जो कण्व होते हैं–मेधावी होते हैं, वे शास्त्रों से वा स्त्रोतों से तेरा गुणगान करते हैं–तेरा कीर्तन करते हैं, तेरा भजन करते हैं।

२ कौन तुम्हें भजते हैं–कौन तुम्हारी स्तुति करते हैं–कौन तेरा गुणगान करते हैं?

उत्तरः– 'केण्वासः[1] त्वाम् ईडते,:– जो [2]"कण्व" होते हैं–जो

---

१. **कण्वासः–** कण्वा एव कण्वासः। "आज्जसेरसुक" सूत्र से 'असुक' प्रत्यय स्वार्थ में हुआ। २. कण्व इति मेधाविनामसु पठितम्।

मेधावी होते हैं–जो बुद्धिमान् होते हैं–जो समझदार होते हैं–जा अकलमन्द होते हैं, वे तुझ प्रकाशस्वरूप प्रभु को भजते हैं, वे तेरी उपासना करते हैं– वे तेरी स्तुति करते हैं–वे तेरा गुणगान करते हैं। पर जो कण्व नहीं होते–मेधावी नहीं होते–बुद्धिमान् नहीं होते–समझदार नहीं होते–अकलमन्द नहीं होते, वे तुझ को नहीं भजते–वे तुम्हारी उपासना नहीं करते–वे तुम्हारा गुणगान नहीं करते। वे तो इस प्रकृति की उपासना करते हैं। वे सदा इन प्राकृत पदार्थों में ही सदा रचे पचे रहते हैं। वे हमेशा इन दुनियावी चीजों के कमाने–खाने और भोगने में ही लगे रहते हैं। ऐसे वित्तमोह से मूढ़ बने हुए–धन–वैभव के मोह में डूबे हुए प्रमादी बालबुद्धि पुरुष को इस लोक से आगे कुछ भी प्रतीत नहीं होता, इस संसार के सिवाय कुछ और दिखाई ही नहीं देता। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है–

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।। कठ १.२.२६।।

ऐसे लोग तो फिर यही मानते हैं कि **"अयं लोको, नास्ति पर, इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।** । कठ १.२.२६।" यही लोक है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा लोक है ही नहीं। ऐसे लोग तो फिर पुनःपुनः मेरे (यमराज–मृत्यु के) वश में आते रहते हैं। अर्थात् वे बार–बार जन्मते और मरते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जन्म–मरण का यह चक्र–यह सिलसिला फिर उनका चलता ही रहता है। इससे फिर उनको छुटकारा नहीं मिल पाता।

कठोपनिषद् १.२७ में कहा गया है कि 'बहुतों को तो यह

ज्ञान सुनने को ही नसीब नहीं होता। अर्थात् वे जीवन भर इसके विषय में कुछ सुन ही नहीं पाते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं कि इसको सुनने पर भी वे इसको समझ नहीं पाते—इसको हृदयंगम नहीं कर पाते। क्योंकि इस ज्ञान को प्राप्त करने वाला भी कोई अद्वितीय व्यक्ति ही होता है और इसको आत्मसात करने वाला भी कोई विरला ही जन होता है।

इस प्रकार जो [1]"कण्व' होते हैं—मेधावी होते हैं—बुद्धिमान् होते हैं—समझदार होते हैं, वे तुझ परमेश्वर को भजते हैं—तुझ नारायण की ही स्तुति करते हैं, तेरा गुणगान करते हैं, पर जो अन्य प्रायः सब अमेधावी जन हैं—सामान्य जन हैं, वे सब तो लक्ष्मी के ही पुजारी होते हैं, धन—वैभव के ही सदा उपासक एवं सेवक बने रहते हैं। दिन की बात तो दूर रही वे तो रात को स्वप्नों में भी सदा लक्ष्मी—धन—धान्य के बारे में ही सोचते रहते हैं। इस प्रकृति के—इस लक्ष्मी के इस—धन—वैभव के कीचड़ में फंसे पड़े हुए व्यक्ति भला उस नारायण की—उस परम पुरुष परमेश्वर की महिमा को क्या समझें? इसलिये प्रथम तो ये तेरी शरण में आते ही नहीं—बहुत किसी के कहने—सुनने पर वे तेरी शरण में भूलचूक से आ भी बैठे और किसी की प्रेरणा से आंख कान मुख मून्द भी लिये, तो भी कहने को वे प्रभु के उपासक होंगे, पर भीतर से वे प्रभु से भी धन—वैभव, पुत्र—पौत्र आदि की ही कामना कर रहे होंगे-याचना कर रहे होंगे। क्योंकि उनकी दृष्टि में इस धन—वैभव,

१. कण्व इति मेधाविनामसु पठितम।

इस सुख–सौभाग्य, इस स्त्री–पुत्र, पौत्र–दौहित्र आदि रूप ऐश्वर्य से बढ़कर कुछ और है ही नहीं। यही कारण है कि वह इस सबकी उपलब्धि के लिये दिन–दो दिन, मास–दो मास, वर्ष–दो वर्ष ही नहीं लगाना चाहते वरन् वे अपना सारा जीवन इस सब को प्राप्त करने, इस सबको सम्भालने–संवारने तथा इस सबके भोगने में लगा देता हैं। इस तथ्य को समझाने के लिए एक प्रसिद्ध कथानक है जिससे भली–भाँति यह बात समझ में आ जाती है कि वास्तव में प्रायः संसार के लोग लक्ष्मी के ही पुजारी होते हैं।

एक बार लक्ष्मी और नारायण में विवाद हो गया कि लोग किसको अधिक चाहते हैं। नारायण का कहना था कि जगत् में मेरे भक्त बहुत हैं, और लक्ष्मी जी का कहना था कि "यह बात यथार्थ नहीं है। लोग मेरे अधिक पुजारी हैं।" नारायण ने कहा कि–"अमुक भक्त को ही देख लो। कितना दानी है, कितना धर्मात्मा है, वह मेरी कितनी श्रद्धा से उपासना करता है–कितनी लगन से मेरा गुणगान करता है, यह सब देखते ही बनता है।" लक्ष्मी जी बोलीं–"फिर उसी को ही आज़मा के देख लो.....! इस संसार रूप देगची के उस एक चावल से ही आप को पता चल जायेगा कि आप कितने पानी में हैं।"

नारायण जी तपस्वी वेश धारण करके बायीं बगल में कुशा का आसन दबाए हुए दायें हाथ में कमण्डल लिये हुए उस सेठजी के द्वार पर चले गए। उस भक्त ने बड़ी श्रद्धा से उनका अभिवादन किया और उनके आगमन पर अपने परिवार का अहोभाग्य माना।

भोजन आदि के उपरान्त पूछा—महाराज ! मेरे योग्य कोई सेवा? नारायण जी बोले—"भक्तवर ! हमने एक मास का अदर्शन मौन रखना है। सो ठहरने की व्यवस्था तथा भोजन आदि की यथोचित व्यवस्था कर दो।"

भगत जी बोले—"महाराज ! अपनी बहुत बड़ी धर्मशाला है उसमें चलिये। उसमें जो भी कमरा आपको अपनी साधना के लिये उचित लगे, वह ले लीजिये और अन्य सब खान—पान की भी यथोचित व्यवस्था हो ही जायेगी।"

दोनों वहाँ गए। नारायण जी की इच्छानुरूप उनको एक कमरा मिल गया और सब व्यवस्था कर दी गई। तब वे अपने जप—तप में तल्लीन हो गये। दो—तीन दिन गुज़रे कि लक्ष्मी जी भी अपने धन—वैभव से सम्पन्न रथ पर आरूढ़ हुई—हुई उधर को आ निकली। सौभाग्य की बात थी कि वे भगत जी भी उस समय धर्मशाला में ही विराजमान थे। रथ को देखकर धर्मशाला के कार्यकर्त्ता द्वार पर गए। आगमन का हेतु पूछकर उन्होंने भगत जी से कहा कि ऐसे धन—वैभव से सम्पन्न लक्ष्मी देवी यहाँ दो चार दिन के लिये निवास करना चाहती हैं। भगत जी बोले। हाँ अवश्य ठहरा दो। यह धर्मशाला तो ऐसे अतिथियों के लिये ही तो बनी है।

भगत जी ने भी बाहर निकल कर उन्हें देखा तो उसकी भी आँखें चुन्दिया गयीं। उसने उसका स्वागत किया। रथ अन्दर आ गया। भोजन का समय था। भगत जी ने भोजनार्थ आग्रह किया

तो उन्होंने स्वीकार कर लिया। हस्त–पाद आदि धुलाकर उनको जब सादर बैठाकर भोजन परोसा गया तो वे बोलीं– "भगत जी! मैं तो इन पात्रों में भोजन नहीं करती, मैं तो चांदी वा सोने के पात्रों में भोजन करती हूँ।" भगत जी बोले–'अपने पास तो बस यही पात्र हैं देवी जी!' लक्ष्मी जी बोलीं–'भगत जी! कोई चिन्ता न करो, मेरे पास पात्रों की व्यवस्था है।' पात्र सारथि से मंगवाए और उनमें लक्ष्मी जी ने भोजन किया। सेवकों ने पात्र साफ करके जब उनको वापस दिये और कहा कि–"ये रहे आपके पात्र।" इस पर लक्ष्मी जी बोलीं–"भगत जी, मैं इन पात्रों को अब क्या करूँगी। मैं तो एक बार जिन पात्रों में खा लेती हूँ फिर उन्हें फैंक देती हूँ। वे फिर मेरे किसी काम के नहीं रहते।"

वे भगत जी हैरान रह गए और सोचने लगे कि यदि ऐसा अतिथि चार दिन रह जाए तो वे कितने धनी हो सकते हैं। वे फिर बोले कि आप चलें आप के ठहरने की पहले व्यवस्था कर दें। वे लक्ष्मी को अपने साथ उस धर्मशाला में अन्दर ले गए और बोले कि–"इतने प्रकोष्ठ–कमरे हैं हमारी इस धर्मशाला में, जिसमें भी आप ठहरना चाहेंगी उसी में ही हम आप की व्यवस्था कर देंगे।" चलते–चलते लक्ष्मी जी ने वह प्रकोष्ठ भी देख लिया जिसमें 'नारायण' जी विराजमान हुए–हुए अपनी साधना कर रहे थे। लक्ष्मी जी वहीं रुक गयीं और बोलीं कि–"यह कमरा हमारे लिये कुछ अनुकूल रहेगा।" यह सुन कर भगत जी बोले कि–"लक्ष्मी जी! इसमें तो एक साधु ठहरे हुए हैं और वे एक मास

तक मौन साधना का व्रत किये हुए हैं। आप कोई और कमरा देख लेंवे।'' लक्ष्मी जी बोलीं–''मुझे आप यदि यही कमरा दे सकें तो मैं ठहर जाऊँगी अन्यथा मैं कहीं अन्यत्र ठहर लूँगी।'' अब भला ऐसी लक्ष्मी को भगत जी कैसे जाने दे सकते थे। वे झट बोले–''अच्छा आप दफ्तर में बैठें, मैं यही कमरा आपको खाली करवा देता हूँ। वे लाला जी–वे भगत जी तब उस साधु के पास अन्दर गए और बोले–'महाराज! आप किसी दूसरे कमरे में ठहर जाएं। इसमें किसी और को ठहरना है।' साधु बोला–भगत जी! लाला जी! मैंने तो पहले ही कहा था कि मुझे बीच में डिस्टर्ब न करना। अब तो तभी मैं यहाँ से जाऊँगा जब कि मेरा एक मास का व्रत पूर्ण हो जायेगा.....।'' लाला जी बोले–''देखो महाराज! हमारी प्रार्थना है कि आप किसी और कमरे में ठहर जाएं। आप अगर हमारा निवेदन नहीं सुनते तो फिर हमने आपका कोई ठेका थोड़ी लिया हुआ है। आप सीधी तरह से यदि कमरे को नहीं छोड़ेंगे तो फिर हम ज़बरदस्ती आप का हाथ पकड़ कर आपको धक्के मार कर बाहर निकाल देंगे और आपके ये दण्ड, कमंडल और आसन आदि भी उठाकर बाहर फैंक देंगे। अतः अच्छा यही है कि आप सहज ही अपना सामान उठाकर किसी दूसरे कमरे में चले जाएँ....।''

साधु उठा और अपना आसन बगल में दबाकर और दण्ड कमण्डल हाथ में लिये हुए वहाँ से निकल पड़ा। लाला जी ने झट लक्ष्मी जी को यह शुभ सूचना दी कि–''लक्ष्मी जी! जिस कमरे

के लिये आपने कहा था वह कमरा अब खाली हो गया है। अभी सफाई करवा देते हैं तब आपका सामान आदि वहां रखवा देंगे, फिर आप चाहे जब तक रहें।' लक्ष्मी जी ने उस साधु वेश में नारायण जी से कहा–"क्यों महाराज! क्या हाल है? संसार में लक्ष्मी की अधिक पूजा होती है या नारायण की? यदि अब भी समझ में नहीं आया हो तो और भी कहीं जाकर किसी भक्त को आज़मा कर देख लो।" नारायण बोले–"लक्ष्मी! तू ठीक कहती थी। ये भगत भी बाहर बाहर से मेरा गुणगान करते हैं परन्तु दिल से ये सब तुझे ही चाहते हैं–दिल से ये सब धन–वैभव के इच्छुक ही रहते हैं–रुपये–पैसे के ही पुजारी बने रहते हैं।

नारायण जी तो वहाँ से निराश होकर लौट ही रहे थे। उन को देखकर लक्ष्मी जी भी वहाँ से लौट कर जाने लगीं। लाला जी ने बहुत आग्रह किया रुकने का, और कहा कि–"आप ही के कारण तो हमने आपकी इच्छानुरूप यह कठोर पग उठाकर इस कमरे को खाली कराया है और फिर भी आप जा रही हैं!"

लक्ष्मी जी मन ही मन बोलीं–"लाला जी! यह तो मैं ही जानती हूँ कि किस कारण आपने कमरा खाली करवाया है। पर लाला जी! जहाँ नारायण नहीं रहेंगे तो फिर वहाँ मैं (लक्ष्मी) भी रहकर क्या करूँगी? क्योंकि मुझे तो वही स्थान भाता है जहाँ नारायण विद्यमान रहते हैं। नारायण के वहाँ से विदा होने पर जब लक्ष्मी जी भी अपना सामान रथ में धरवाने लगीं और आग्रह करने पर भी जब वे वहाँ नहीं रुकीं, तो तब लाला जी को बड़ा पश्चात्ताप

हुआ। पर फिर क्या बन सकता था। ऐसे ही हम नासमझ लोगों ने भी लक्ष्मी के लोभ में पड़–पड़ कर नारायण की सदा अवहेलना की, तो अन्त में जब हम भी जग से जाने लगते हैं तो नारायण को तो पहले ही हम विदा कर चुके होते हैं, लक्ष्मी भी फिर तब हमसे विदा होने लग जाती है। या यों कहो कि इस दुनिया में इस संसार की आसक्ति प्रसक्ति में अहर्निश लगे हुए हम नारायण की तो पहले ही अवहेलना कर चुके होते हैं, मरने पर जो लक्ष्मी होती है वह भी हमसे विदा हो लेती है, तब हमको बड़ा धक्का लगता है और तब हम सोचते हैं कि–"काश कि हम उस नारायण की आराधना कर पाते तो कितना अच्छा होता। पर तब सिवाय हाथ मल–मल कर पछताने के और क्या हो सकता है?

यही कारण है कि जो 'कण्वासः'–कण्व होते हैं–मेधावी होते हैं, वे 'कण्वासः त्वाम् ईडते–तेरी स्तुति करते हैं–वे तेरा गुणगान करते हैं–वे तेरा ध्यान करते हैं–वे तेरा भजन करते हैं।

इस मन्त्रांश का यों भी अर्थ किया जा सकता है कि जो 'कण्वासः मेधावी बनना चाहते हैं' वे स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं। वे ज्यों–ज्यों तेरे समीप बैठते हैं' तेरा संग करते हैं– तेरे सम्पर्क से फिर वे धीरे–धीरे मेधावी–बुद्धिमान्–समझदार होते जाते हैं। यों जब वे प्रायः दुनियावी लोगों के संग में बैठते हैं तो धीरे–धीरे उनकी भी वैसी ही इच्छाएँ–कामनाएँ बढ़ती रहती हैं जैसे कि उन लोगों की। फिर रात दिन वे भी वही चीजें चाहने लगते हैं, जो कि वे चाहते रहते हैं। यदि वे वस्तुएं या भोग फिर सहज

ढंग से उन्हें नहीं मिल पाते तो फिर वे भी उन्हीं सामान्य लोगों के समान उनकी उपलब्धि के लिए झूठ बोलते हैं, छल–कपट करते हैं, उन्हीं के समान उनकी प्राप्ति के लिये वे उपदा–रिश्वत देते हैं, आदि–आदि। पर वे ही व्यक्ति जब तुझ प्रभु देव के समीप बैठने लगते हैं, तेरे भक्ति भरे गीत गाने लगते हैं, तो फिर वे शनैः–शनैः तुझ 'अकाम' प्रभु के समान धीरे–धीरे अकाम–निष्काम बनते जाते हैं, फिर वे उतने ही खाने–पीने, पहनने–ओढ़ने में और वह भी सादे से सादे पदार्थों के सेवन में सन्तोष अनुभव करने लगते हैं जितना कि उन्हें अपने कर्मों के अनुसार तेरी व्यवस्था से प्राप्त होता है। तब जग की दृष्टि में ही नहीं वरन् तेरी साक्षी में भी इर्ष्या–द्वेष से ऊपर उठे हुए–हुए वे मेधावी बुद्धिमान् समझदार कहाने लगते हैं।

'कण्वास' वे भी होते हैं जो स्थान–स्थान पर जा–जा कर गुरुचरणों में बैठ कर जप–तप स्वाध्याय आदि कर–कर के ज्ञान के कण–कण को चुन–चुन कर एक दिन वे 'कण्वास' ऐसे मेधावी ज्ञानी ध्यानी बुद्धिमान्–समझदार बन जाते हैं, कि फिर वे तुझ को भजने में जो सुख शान्ति और आनन्द अनुभव करते हैं वह फिर कहीं अन्यत्र अनुभव नहीं करते।

३ कौन तुझको भजते हैं–कौन तेरी स्तुति करते हैं–कौन तेरी उपासना करते हैं?

उत्तर–"वृक्तबर्हिषः त्वाम् ईडते"। 'वृक्तबर्हिष' ऋत्विजों को कहते हैं। वृक्तबर्हिष अर्थात् ऋत्विज उनको कहते हैं जो

ऋतु–ऋतु में यज्ञ करते हैं, जो समय–समय पर यज्ञ करते हैं। वृक्तबर्हिष उनको भी कहते हैं जो यज्ञार्थ बैठने को आसन बनाने के लिये दर्भ काटते हैं। फिर उससे आसन बनाकर बड़ी श्रद्धा से उस पर बैठते हैं और तब "**श्रद्धायाग्निः समिद्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः।।ऋ १०.१५१.१।।**" बड़ी श्रद्धा भक्ति से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित कर उसमें श्रद्धापूर्वक घृत भात सामग्री आदि की हवियाँ होमते हैं।

इस प्रकार से श्रद्धा प्रेम और भक्ति से किया हुआ यज्ञ यजमान को सब प्रकार से बढ़ाता है, सुख सौभाग्यों से समृद्ध करता है। वह उसकी चित्त रूपी भूमि को परिवर्तित करता है। वही यजमान, जो कभी प्रणाम पाने में सुख अनुभव करता था, वह अब प्रणाम करने में सुख अनुभव करता है। जो कभी सबसे सेवा–शुश्रूषा पाने में प्रसन्नता अनुभव करता था वही अब दूसरों की सेवा और शुश्रुषा करके फूला नहीं समाता है। पहले इसको कोई कुछ देता या खिलाता था तो यह फूला नहीं समाता था, पर अब यह किसी को कुछ देकर और कुछ खिलाकर जितनी खुशी महसूस करता है, उतनी किसी से कुछ लेकर वा खा कर नहीं। यही यज्ञ शनैः–शनैः इस यजमान को इस पृथिवी लोक से अर्थात् पार्थिव भोग–विलासों से ऊपर उठाता हुआ धीरे–धीरे अन्तरिक्ष में लाता है, अर्थात् उसको सत्संग स्वाध्याय आदि की ओर बढ़ाता है। फिर धीरे–धीरे उसे द्युलोक में पहुँचाता हुआ संयम धारणा ध्यान समाधि द्वारा शान्ति और आनन्द के समीप पहुँचा देता है।

वृक्तबर्हिषः उन साधकों को भी कहते हैं जो अपनी हृदयगत वासनाओं को उखाड़ फैंकते हैं और फिर निर्विघ्नता पूर्वक तुझ ज्ञानस्वरूप– प्रकाशस्वरूप प्राणप्रिय परमप्यारे प्रभु की बड़ी श्रद्धा भक्ति और प्रेम से उपासना करते हैं, तेरा भजन–पूजन करते हैं, तेरा गुणगान करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के शब्दों में, **'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।** ऋ० १.१.१।। 'हम बड़ी श्रद्धा से उसकी स्तुति करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसका गुणगान करते हैं। वह इसलिये कि वह हमारा पुरोहित है। वह पहले से ही हमारा हित करता है। वह सारे संसार रूप महान् यज्ञ का प्रकाशक है। ऋतु– ऋतु के अनुरूप वह यज्ञ करने वाला है। ऋतु ऋतु के अनुसार वह सब की जाठराग्नियों में अपने हव्य द्रव्यों से आहुति देता रहता है। जो भी कुछ उसके पास होता है वह सब कुछ प्राणियों के हित के लिये वह होम देता है। वही हम सब के हित के लिये सब प्रकार के रमणीय पदार्थों एवं रमणीय रत्नों को ध ारण करता है। ऐसे अग्निस्वरूप–ज्ञानस्वरूप–प्रकाशस्वरूप सब जीवों के अग्रणी–अगुआ परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं– हम गुणगान करते हैं। इस तरह जब दिल से उस से प्रभावित होकर जब हम उसके स्तोता बन जाते हैं, तो यों धीरे– धीरे वह प्रभुवर हमारे लिये मुख्य हो जाते हैं ओर अन्य सब पदार्थ गौण हो जाते हैं। तभी हम सामवेद के शब्दों के द्वारा सहज़ ही कह उठते हैं– सहज ही गुनगुना उठते हैं कि– **"अग्न आयाहि वीतये गृणानो**

हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।। सामवेद १।'' अर्थात् हे प्रकाशस्वरूप प्रभुवर! तुम आओ, अब और देर न लगाओ, अब आपका वियोग हमें सह्य नहीं है। हे हमारे द्वारा स्तुति किये गए परमात्मन्! हमें ज्ञान ज्योति से युक्त करने के लिये, हमें हृदय से अभिव्याप्त करने के लिये आईये, और आकर हमारे इस हृदयासन पर, हमारे होता बन कर विराजमान हूजिये, तथा हमें अपने आनन्दरूप धन से कृतार्थ कीजिये।

सचमुच जब साधक–उपासक अपने आराध्य देव के गुणों पर मुग्ध हो जाता है और जब रीझने लगता है, तब वह सतत फिर उसे ही गाने लगता है– उसे ही गुनगुनाने लगता है, फिर उसके लिये अर्थात् उसकी उपासना और ध्यान–भजन के लिये उसके पास समय भी सहज निकल आता है। तब उसको अपने हृदयासन पर श्रद्धा भक्ति से विराजान करने को उसमें भावना भी बन जाती है। उसी की फिर वह सदा राह भी देखता रहता है– उसी की वह फिर सब समय बाट भी जोहता रहता है और जब वह आ जाता है, तो फिर यह साधक तो उसी में ही सदा खोया–खोया सा रहता है, उसी में ही फिर वह सदा डूबा–डूबा हुआ सा रहता है। उसको फिर वह अन्य सब कुछ भूला–भूला सा ही रहता है। उसका फिर अन्यत्र मन ही नहीं लगता, अन्यत्र ध्यान ही नहीं लगता। फिर उसको कुछ और अच्छा ही नहीं लगता, फिर उसको कुछ और भाता ही नहीं। वह तो फिर उसी में ही तल्लीन रहता है और ऐसा लगता है कि जैसे उस प्रभु

से उसको कुछ निराला ही मिल गया हो।

कई के पास वह आता है और जब वह देखता है कि इनका हृदयासन–दिल तो खाली ही नहीं है तो फिर वह वहीं टिकता ही नहीं, लौट जाता है, क्योंकि उनके हृदयासन पर तो कोई और ही विराजमान रहता है।

एक व्यक्ति ने दयानन्द मठ दीना नगर में स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी को कहा– मुझे संन्यास दे दो। मैं भी प्रभुभजन करूंगा, उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करूंगा, उसका ध्यान कर उसको अपने हृदयासन पर बिठाऊँगा। पर दो चार दिनों में ही वह द्वार के बाहर धूप में उदास–उदास सा बैठ गया। स्वामी जी भी तब अपने कार्यों से निवृत्त होकर नगर की ओर किसी कार्य से जाने लगे थे तो उन्होंने आश्रम के बाहर उस व्यक्ति को उदास बैठा हुआ देखा। उसने पूछा– "अरे तू यहाँ क्यों बैठा हुआ है? सन्ध्या और यज्ञ आदि में तू क्यों नहीं गया? मैं सच कहुँ स्वामी जी!–"अरे संन्यास लेकर भी क्या तू झूठ बोलेगा?" वह बोला–"स्वामी जी! सच्ची बात यह है कि मेरा सन्ध्या–हवन–यज्ञ आदि में जी ही नहीं लगता। मुझे तो अपनी पत्नी याद आ रही है।" स्वामी जी मुस्कराए और बोले– "अरे चार दिन पहले तो तू मुझे बता रहा था कि– "मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मुझे संन्यास दे दो, और अब तू कह रहा है कि 'मुझे पत्नी याद आ रही है'। उतार कपड़े और भाग जा यहाँ से, बेकार में संन्यास को भी तू बदनाम करेगा।" बस फिर क्या था उसने कपड़े उतारे और द्वार बिना कुछ खाये

पिये झोला उठाकर घर भाग गया।

कहने का अर्थ यह है कि जिसके हृदयासन पर पत्नी पुत्र–पौत्र आदि विराजमान हों, अर्थात् जिसका हृदयासन उनके लिये ही बुक हो, और उनको ही वहाँ सदा देखने सुनने स्नेह लाड–प्यार करने में ही जिसका जी लगता हो, उसके पास प्रभु आकर भी क्या करेगा? क्योंकि उसके बैठने को वहाँ स्थान तो है ही नहीं। अतः जो 'वृक्तबर्हिष' होते हैं, वे उस प्रभु को बुलाने से पूर्व अपने हृदयासन पर से अन्य सब को उखाड़ फैंकते हैं अन्य सबको वहाँ से विदा कर देते हैं। और फिर कोई आता भी है उनके हृदयासन पर विराजमान होने को, तो फिर वे उनको वर्ज देते हैं–उनको मना कर देते हैं। क्योंकि फिर वे केवल उस ज्ञानस्वरूप–प्रकाशस्वरूप प्राणप्रिय प्रभु को ही उस पर बिठाना चाहते हैं। इसलिये वे बड़ी टीस के साथ उसे पुकारते हुए कहते हैं–'अग्न आयाहि, होता सन् बर्हिषि निसत्सि'–हे प्यारे प्रभुवर! अब तुम आओ, बिल्कुल भी देर न लगाओ, अब तुम्हारा वियोग मुझे सह्य नहीं है। मेरा हृदयासन रिक्त है, सर्वथा वासनाओं से शून्य है, निर्मल–स्वच्छ है–सब तरह से साफ–सुथरा है। आप आकर इस पर विराजमान होईये और होता बन कर मुझे अपने आनन्द से आनन्दित कर कृतार्थ कीजिये।

मन्त्र में पुनः प्रश्न उठता है कि–

कौन तुझ को भजते हैं–कौन तेरा गुणगान करते हैं?

तो इसका उत्तर है–

"**हविष्मन्तः त्वाम् ईडते**"– जो हविष्मन्त होते हैं–जो सदा अपने हाथों में हवियाँ रखते हैं, जो सदा अपने झोलों को हव्य द्रव्यों से भरे रहते हैं, जो हमेशा अपनी झोलियों को देने योग्य पदार्थों से लभालभ भरे रखते हैं, जो सर्वदा अन्न आदि खाद्य पदार्थों से भरी हुई अपनी बोरियों के मुख खुले रखते हैं, जो सदा वस्त्र शाल कम्बल आदि दानों को प्रदान करने के लिये तैयार रहते हैं, जो सर्वदा अपनी जेब एवं पर्सों को रुपयों–पैसों से भरे रहते हैं, यह सोचकर कि न जाने कहाँ पात्र मिल जाए और उसको कुछ देना पड़ जाए, जो सदा अपनी खोपड़ियों को ज्ञान विज्ञान से भरे रखते हैं, यह विचार कर कि न जाने कहाँ किसी की जिज्ञासा को शान्त करना पड़ जाए, ऐसे ही हविष्मन्त लोग तुम्हारी पूजा करते हैं– तुम्हारा गुणगान करते हैं।

ऐसे ही लोगों को जब कहीं अग्नि दिखाई देती है तो वे उसमें अपने हव्य–द्रव्यों को होमने लगते हैं–तो वे उसमें अपने घृत–भात, समिधा–सामग्री की आहुतियाँ बड़ी श्रद्धा और प्रेम से देने लगते हैं, और साथ–साथ यह भी कहने लगते हैं कि–"इदमग्नये–इदं न मम। इदं प्रजापतये–इदं न मम।" इदम् इन्द्राय–इदं न मम। इदं सोमाय–इदं न मम।"इत्यादि–यह हव्य द्रव्य इस अग्नि के लिये है, यह मेरा नहीं है। अर्थात् अब इस पर मेरा अधिकार नहीं है। अग्नि देवता अब इसको सर्वोपकारार्थ फैला सकता है। यह आहुति शान्तस्वरूप प्रभु के लिये है। यह मेरी नहीं है। अर्थात् इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है।

शान्तस्वरूप प्रभु इसे फैला सकता है। यह घृत भात वा समिधा सामग्री रूप हव्य पदार्थ प्रजापति परमेश्वर वा इस प्रजापति रूप अग्नि देव के लिये है। यह मेरा नहीं है। अर्थात् इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है। यह हव्य द्रव्य इन्द्र अर्थात् जगत् सम्राट प्रभु वा जग का तेज प्रकाश आदि रूप ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि देव के लिये है। यह मेरा नहीं है। इस पर अब मेरा स्वत्व–अधिकार नहीं है। अब तो यह प्रभु का है, अर्थात् सब का है–सब का साञ्जा है–।

इतना ही नहीं, उनको जब कोई नज़र आता है या कोई विद्वान् संन्यासी परिव्राजक नज़र आता है जो अहर्निश जन कल्याण के लिये कमर कसे रहता है, जो सबको सुधारने के लिये स्थान–स्थान पर जा–जा कर सदुपदेश आदि देता रहता है, तो वे उनकी जाठराग्नियों में अपने अन्न–रस, दुग्ध–फल–शाक आदि रूप हव्यद्रव्यों को होमने लगते हैं। उनको कोई नंगा दिखाई देता है, तो वे उसको वस्त्र शाल वा कम्बल रज़ाई आदि प्रदान करते हैं। वे जब किसी में लिखने–पढ़ने की तड़प देखते हैं और अर्थरूप साधन के अभाव में उन्हें पढ़–लिख पाते हुए नहीं देखते हैं, तो फिर झट वे अपनी जेब वा पर्सों के मुख खोल कर उस विद्या के अभिलाषी बालक को कृतार्थ करते हैं। वे किसी को अज्ञानान्ध-कार में कहीं अटकता–भटकता हुआ देखते हैं, तो फिर झट वे उसके लिये अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिये अपने ज्ञान–विज्ञान के द्वार खोल देते हैं।

यह सब कुछ ये हविष्मन्त बड़ी श्रद्धा और प्रेम से करते हैं। ये अपने हव्य द्रव्यों को मिष्ट, पुष्ट रोग–विनाशक और सुगन्धित तथा घी से स्निग्ध अर्थात् तर–बतर करके देते हैं। तात्पर्य यह है कि ये 'हविष्मन्त' जब अपनी देन किसी को देते हैं तो **'दानं प्रियवांक्सहितं'** करके देते हैं। अर्थात् वे किसी को कुछ देते हैं तो बहुत प्यार से देते हैं, तथा देते हुए वे फूले नहीं समाते हैं।

एक परिवार में मुझ लेखक का भोजन था। उस परिवार की पूज्य बहिन जी ने बहुत बढ़िया स्वादिष्ट चावल बनाए और मेरी थाली में उसने ऐसे स्नेह–प्यार से परोसे कि मैं देखता ही रह गया। भोजन की थाली मेरे सम्मुख अभी आई ही थी कि इतने में एक दूसरी आदरणीय बहिन जी वहीं आ गई और बोली कि–'इन को ये चावल बिल्कुल ही नहीं खिलाने हैं, और यह कहते हुए उसने मेरी थाली में से वे चावल निकाल दिये, तथा कुछ कड़वे कसेले चरपरे करेले, आंवले आदि पदार्थ मेरी थाली में धर दिये...। मैंने देखा कि चावल परोसने वाली पूज्य बहिन जी का प्यार तो अनूठा था ही, पर उनको निकालने वाली अर्थात् न खिलाना चाहने वाली दूसरी आदरणीय बहिन जी का स्नेह–प्यार भी अपने आप में कुछ कम नहीं था। मैंने क्या खाया क्या नहीं खाया, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, पर मैं तो उन दोनों पूज्य बहिनों के स्नेह–प्यार को अपने हृदय के धर्म कान्टे पर ही तोलता रह गया, यह सोचकर कि पता लगे कि किसका स्नेह अधिक और किसका कम है। पर मेरे हृदय की तुला पर उन दोनों का

प्यार समान ही निकला। क्या आश्चर्य की बात है कि खिलाने वाली और न खिलाने वाली इन दोनों बहिनों का स्नेह समान ही निकला।

एक बार एक वानप्रस्थ महानुभाव ने कहीं व्याख्यान दिया तो उनको एक वृद्धा माँ बड़ी श्रद्धा से अपने घर भोजन कराने ले गई। उसने मुनि को भोजन कराया और फिर बड़ी श्रद्धा और प्रेम से उसके लिये वे खीर लाई, और बोली–"महाराज! आप खीर खाइये।" मुनि जी बोले–"माँजी! अभी तो आपने मुझे दही खिलाई है। दही और खीर का परस्पर मेल नहीं है। अतः मैं अब खीर नहीं खा पाऊँगा। आयुर्वेद में ऐसे बेमेल भोजन के लिये मना किया है। क्योंकि उससे शरीर को हानि होती है। "वह माई बोली–"मुनि जी! आपको पता है कि मैंने यह खीर कितनी श्रद्धा और प्यार से बनाई है! क्या– इसके खाने से इनकार करते हुए आपको अच्छा लगता है? मुनि जी बोले– "माता जी! मुझे इससे हानि होगी।" इस पर बुढ़िया बोली–"महाराज! क्या हानि होगी मेरी इस खीर खाने से, ज्यादा से ज्यादा तुम मर ही तो सकते हो? इससे बढ़कर तो कुछ और हानि नहीं हो सकती। भले ही तुम मर जाओ, पर तुम मेरी खीर खा कर ही मरो। न जाने तुम कैसे मुनि हो? अपनी जान को तो तुम देखते हो, पर मेरी श्रद्धा और प्रेम से बनाई हुई खीर को तो तुम देखते ही नहीं। अपने जीवन का तो तुम्हें बहुत ध्यान है पर मेरी श्रद्धा और प्रेम का तो तुम्हें कुछ ध्यान ही नहीं है।"

उस बुढ़िया की श्रद्धा और प्यार को देखकर वह मुनि बोला–"लाओ माँ जी ! आज जो भी कुछ होगा सो होगा, पर मैं तुम्हारी श्रद्धा और प्रेम से बनाई हुई इस खीर को अवश्य खाऊँगा.......।"

हरियाणा की एक माँ ने स्वर्गीय पं० प्रकाशवीर शास्त्री को रात को घण्टा सवा घण्टा भाषण देते हुए देखा था। वह उनसे प्रभावित भी बहुत हुई थी। प्रातःकाल जब वे भ्रमण करके अपने स्थान की ओर लौट रहे थे जहाँ कि वे ठहरे हुए थे, तो उस समय उस माँ ने उसको देख लिया और मन ही मन सोचा कि यह तो वही शास्त्री लगता है जो रात को बोल रहा था। वे जब उनके मकान से गुज़र रहे थे जो कि रास्ते में पड़ता था, तो इस माँ ने उसको बड़ी श्रद्धा से नमस्ते की और कहा–"शास्त्री! ज़रा ठहरो, यह कह कर वह घर में भीतर गई और बेलन भरकर गर्म गर्म दूध का ले आई और बोली–"शास्त्री! पी जा।" प्रकाशवीर जी बोले–"अम्मा! इतना दूध! यह तो मुझसे नहीं पिया जायेगा।" इस पर वह अम्मा बोली–"अरे शास्त्री, तू बहुत भोंके से, पीले यह दूध, नहीं तो जल्दी मर जायेगा। प्रकाशवीर जी कहा करते थे कि हरियाणा की उस बुढ़िया माँ के शब्द भले ही कैसे भी क्यों न हो, पर जो अनूठा हृदय का प्यार उस दूध में मैंने देखा वह कहीं अन्यत्र मुझे शायद ही अनुभव हुआ हो! तभी मैं भी बड़े प्यार से उसको झट पी गया। और मेरे दूध पीने पर सम्भवतः मुझे इतनी प्रसन्नता नहीं अनुभव हुई होगी जितनी कि मैंने उस

प्यारी बूढ़ी माँ के चेहरे पर निहारी थी।

यात्रा में एक व्यक्ति के हाथ में रोटी थी। उसने अपने साथ बैठे हुए दूसरे सज्जन से कहा कि–"भाई साहब! आप भी खाईये।" इस पर वह सज्जन बोला–"यदि आप इसमें से मुझे भी दे देंगे तो फिर भला आप स्वयं क्या खायेंगे? इस पर वह व्यक्ति बोला–"भाई साहब! मैं हविष्मान् हूँ, मैं हविष्मन्त हूँ। और 'हविष्मन्त' वह होता है जिसके पास जो कुछ होता है, वह हव्य होता है–होमने योग्य होता है। पहले वह अपने हव्य पदार्थों को दूसरों में होमता है। तदनन्तर यज्ञशेष–हुतशेष वह अपने में होमता है। इसलिये मेरी इन दो रोटियों वा दो परांठों में जो प्रथम भाग है, वह यज्ञार्थ है–यज्ञ में होमने या दूसरे को खिलाने के लिये है, और जो द्वितीय भाग है, वह यज्ञशेष है–हुतशेष–भुक्तशेष है, वह मेरे लिये है। मेरे प्यारे बन्धुवर ! ये तो दो रोटी वा दो परांठे हैं। मेरे पास तो अगर एक ग्रास–एक निवाला भी हो, तो वह भी हव्य होने से उसमें आधा ग्रास और का, और आधा मेरा होता है। अधिक क्या कहूँ, चूंकि मैं "हविष्मन्त" हूँ, अतः मेरे इस जल में भी दूसरों की प्यास बुझाने को देय जल है। दूसरों की प्यास बुझाने से मेरी आत्मा तृप्त होती है और अपनी प्यास बुझाने से मेरा शरीर तृप्त होता है। यह सब सुनकर वह व्यक्ति बड़ा प्रभावित हुआ और उसके स्नेह एवं ऊँची भावना को देखकर उसने थोड़ा बहुत कुछ ग्रहण कर लिया।

सो हविष्मान् यजमान वह होता है जो 'हुताद' होता है– जो

हुतभुक होता है, जो यज्ञशेषभुक होता है–जो होम के खाता है–जो दे के खाता है–जो खिला के खाता है, जो पिला के पीता है, जो पहना के पहनता है, जो ओढ़ा कर ओढ़ता है। जो अपने ट्रंकों में, कनस्तरों में, अपने बिस्तरों में, अपने झोलों में, अपने पर्सों में, अपनी जेबों में, अपने हाथों में नाना प्रकार के हव्य द्रव्यों को ढोते रहते हैं। वे हव्य पदार्थ खाद्य एवं पेय हो सकते हैं, कपड़े–लत्ते हो सकते हैं, फूल–फल हो सकते हैं, टाफी–टूफी हो सकते हैं, औषधियाँ हो सकती हैं, (जो एक दम समय पर किसी के काम आ सकें) या रुपये–पैसे हो सकते हैं, इत्यादि। आवश्यकता पड़ने पर वे हविष्मन्त उन सब हव्य पदार्थों को प्रदान करने में रुकते नहीं। वे हविष्मन्त इन सब पदार्थों को पुष्ट मिष्ट रोग विनाशक और सुगन्धित बना कर देते हैं। उनकी इन हवियों में–उनकी इन देनों में अपने ही ढंग का एक स्नेह होता है–अपने ही ढंग का एक प्यार होता है, अपने ही ढंग की एक श्रद्धा होती है, अपने ही ढंग की एक मिठास होती है, अपने ही ढंग की एक नम्रता होती है, जो देखते ही बनती है। ऐसे हविष्मन्त अपने जीवन में जब यह सब कुछ करते हैं तो ऐसा लगता है, जैसे कि वे लोग इसके माध्यम से अपने प्यारे प्रभु की पूजा कर रहे हों। जब वे यह सब कुछ दे रहे होते हैं तो ऐसे लगता है जैसे कि वे हवन कुण्डों में बड़ी श्रद्धा और प्रेम से आहुति दे रहे हों, तभी तो वेद में कहा गया है कि याज्ञिक अपने सर्वविध हव्य द्रव्यों से अपने प्यारे प्रभु की पूजा करते हैं।

अथर्ववेद में भी लिखा है कि–"**वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो।।** अ०२०.२३.६।।"–हे इन्द्र! हविष्मन्तः **त्वायवः वयं (त्वां) जरामहे। वसो! उत अस्मयुः त्वम्।**

हे परमेश्वर! हे जगदीश्वर! हवियों वाले–हव्य घृत–भात मोहनभोग–सामग्री आदि वाले अथवा तेरे प्रिय ज़रूरत मन्द व्यक्तियों को प्रदान करने के लिये अन्न–जल, फल–फूल, पहनने–ओढ़ने के वस्त्र आदि पदार्थों को लिये हुए हम हविष्मन्त प्रतिरूप में उन सबसे स्नेह–सम्मान, सेवा–यश, मान–सम्मान बढ़ाई न चाहते हुए (त्वायवः) आत्मना–हृदय से तुझको, तेरे स्नेह को, तेरे आशीर्वाद को चाहते हुए हम तेरी स्तुति करते हैं, तेरा स्तवन करते हैं। और हे सबको बसाने वाले प्यारे प्रभुवर! तुम भी हमको चाहो, हमें अपने अनूठे स्नेह से आप्लावित करने वाले होओ।

अन्यत्र भी सामवेद में लिखा है कि– "दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः।" वह अग्नि अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर प्रतिदिन जागरूक मननशील हविष्मन्त, अर्थात् हव्य द्रव्यों को उसके नाम पर–दीनबन्धु दीनों के नाथ के पवित्र नाम पर हव्य लुटाने वाले सच्चे याज्ञिकों से स्तुत्य है–स्तुति करने अर्थात् झूम–झूम कर गुणगान करने के योगय हैं।

सामवेद के एक और मन्त्र में भी कहा गया है–"नरो हव्येभिरीडते। सा०७०।। कि जो नर होते हैं–जो स्वयं विषयों में नहीं रमण करते हैं, जो स्वयं भोग–विलासों से ऊपर उठते रहते

हैं, अर्थात् जो स्वयं सादा जीवन और उच्च विचारों के धनी होते हैं, वे ही नर–वे ही सज्जन आर्य–धर्मात्मा पुरुष अपने उस आराध्य देव की इन हवियों से पूजा करते हैं–वे ही उस अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्राणप्रिय प्रभु का श्रद्धा भक्ति और प्रेम से नाम ले–ले कर अपनी हवियों से उसको पूजते हैं, आत्म समर्पण रूप हवि से उस अग्निस्वरूप प्यारे प्रभु को अपने भीतर देदीप्यमान करते हैं। इन हव्य द्रव्यों अर्थात् समिधा–घृत–भात–सामग्री आदि से इस अग्नि को देदीप्यान कर सारे वातावरण को शुद्ध–पवित्र बनाते रहते हैं। पितृयज्ञ में और अतिथि यज्ञ में माता–पिता, दादा–दादी और विद्वान् साधक संन्यासियों आदि की जाठराग्नियों में श्रद्धा प्रेम से अन्नादि उत्तम द्रव्यों की आहुति देकर उनको साधना और समाजसेवा के लिये सदा देदीप्यमान–सोत्साह कार्य करने को तैयार करते रहते हैं। इतना ही नहीं बलिवैश्वदेव यज्ञ के माध्यम से चींटी कौवे, कुत्ते आदि को ग्रास देकर भी कृतार्थ करते रहते हैं, और अपने–अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति उन्हें सोत्साह सम्पन्न करते रहते हैं। दीन अनाथों की पेट की अग्नि में भी आहुति डाल कर उनको भी वे कृतार्थ करते रहते हैं। हृदय से पढ़ने के अभिलाषी दीन–हीन छात्रों की सहायता कर उनकी खोपड़ियों को ज्ञानधन से सम्पन्न करने के लिये भी वे उनकी सहायता करते रहते हैं। यह सब कुछ वे सच्चे–सुच्चे साधक अपने प्राणप्रिय प्रभु के नाम पर करते हैं, उसी को अपनी ओर आवर्जित करने के लिए करते हैं। उसी के अनुपम प्यार को पाने

के लिये ये अपने हव्य-द्रव्यों से यह सब कुछ करते हुए उसकी पूजा करते हैं।

कई व्यक्ति यह सब कुछ तब करते हैं जबकि वे इस सब के करने के योगय नहीं रहते। कई सोचते हैं कि यह सब यज्ञ आदि उत्तम कार्य हम बुढ़ापे में करेंगे जबकि हम रिटायर हो जायेंगे। परन्तु तब तो हम इन दीन-दुःखियों की कुछ सेवा भी नहीं कर पायेंगे। क्योंकि तब न ही अपने पास पर्याप्त धन रहेगा और न ही शक्ति रहेगी। अतिथि विद्वान् संन्यासी की सेवा-शुश्रूषा भी इसी जवानी की आयु में ही हो सकती है, बुढ़ापे में नहीं। वृद्ध माता-पिता, दादा-दादी आदि की सेवा-शुश्रूषा भी इसी आयु में हो सकती है, हवन-होम करने का भी यह सबसे बढ़िया समय है। प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण कर उसका ध्यान-भजन करने का भी यही बढ़िया समय है। तभी तो मनु जी ने लिखा है कि-"युवैव धर्मशीलः स्यात्"- मनुष्य को युवावस्था में धर्मपरायण होना चाहिये, अपने धर्मों-अपने कर्तव्यों के प्रति सदा सजग-सदा जागरूक बने रहना चाहिये। पर हम तो तब अपने आप को प्रभु को सोंपते हैं जबकि हमारे जीवन का गूदा-गूदा आम के गूदे की तरह भोग लिया जाता है और छिलके और गुठलीसम वृद्धावस्था को प्रभु के प्रति सोंप देते हैं। नचिकेता के पिता वाजश्रवा ने भी गाएँ-घोड़े दान किये, संन्यास लिया, पर तब जब उसकी गौएँ, दूध दे चुकी थीं, घोड़े अशक्त हो चुके थे, टाट-खाट आदि रूप सब पदार्थ जीर्ण-शीर्ण हो चुके थे, अर्थात् यह सब

कुछ प्रायः किसी काम का नहीं रह गया था। ऐसे ही उनका शरीर भी अब क्षीण हो चुका था, उनकी इन्द्रियाँ भी अब शिथिल हो चुकी थीं, अतः न ही वे अब कुछ खा–पीकर और शरीर से उसे पचाकर उसको सबल सशक्त समाजोपयोगी बना सकती थीं, न ही स्वयं भली–भाँति देख–सुन और बोल सकती थीं, तो फिर भला ऐसे दान से क्या लाभ–ऐसे परोपकार से क्या लाभ– ऐसे संन्यास से क्या लाभ? यह सब तो फिर उल्टा समाज पर भार ही हुआ न?

यों तो यह भी हव्य तो है–दान तो है, त्याग तो है, परन्तु यह कीड़ा लगी हुई समिधाओं और घुन लगी हुई सामग्री के समान हेय हव्य–हेय दान और हेय त्याग है। इसी प्रकार जो पितृसेवा–जो माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा भार समझकर की जाती है वा उनको जो खिलाया–पिलाया वा जो पहनाया–ओढ़ाया जाता है, वह भार समझ करे किया जाता है, तो वह सेवा आदि सब कीड़ा लगी हुई समिधाओं के समान है। क्योंकि भीतर से तो वे यह सोचते हैं कि यह मरे तो सम्पत्ति अपने हाथ में आए, यह कमरा खाली हो या फिर यह कि इससे हमें कुछ खास उपलब्ध होगा। अर्थात् जबकि यह इस दुनिया से जायेगा तो हमें ही अपना सब कुछ यह देगा, इन भावों से की जाने वाली सेवाएँ सब मल–मूत्र से सनी हुई समिधाओं को हवन कुण्ड में होमने के समान है।

सन्तान को चाहिये कि वह अपनी सेवाएँ बेचे नहीं, ये मेरे

माता–पिता हैं, ये मेरे दादा–दादी हैं, इनकी जितनी भी सेवा की जाए वह कम है। क्योंकि इनके हम पर अगणित उपकार हैं। इन्होंने उस समय हमको सम्भाला जबकि हम कुछ भी न थे और आज जो भी कुछ हम हैं, वह सब इनकी कृपा एवं आशीर्वाद से हैं। अतः यह तो सिर आँखों पर बैठाने योग्य हैं, श्रद्धापूर्वक पूजने के योग्य हैं। इनके तो पहले ही इतने हम पर उपकार हैं कि हम उनका ऋण भी नहीं चुका सकते। इनके अद्वितीय स्नेह लाड–प्यार को जब हम स्मरण करते हैं तो उनके समाने हमें अपनी यह तुच्छ सी सेवा–शुश्रूषा बहुत हेय लगती है। ये हमें बिल्कुल कुछ भी न दें तो भी इनका बने रहना और मन, वचन कर्म से अपनी इस फुलवाड़ी को देखना चाहना और उसके लिये हमें आशीर्वाद देते हुए प्रभु से हृदय की टीस के साथ प्रार्थना करना, यह सब भी अपने लिये अद्वितीय चीज है। यह सब सोचकर जो पितृयज्ञ करते हैं, जो श्रद्धा, भक्ति से इनकी सेवा–शुश्रूषा करते हैं, वे ही मनुष्य धन्य होते हैं।

एक पुत्र स्वयं डाक्टर था। वह अपनी वृद्ध माँ को देखने आया। उसकी ऐसी स्थिति हो गई थी कि उसे होश नहीं रहा। ज़मीन पर उसे डाल दिया गया। नली के द्वारा खुराक दी जाने लगी। काफी समय व्यतीत हो गया। कई घण्टों के बाद उसका पुत्र उसके चिकित्सक से पूछता है कि–"डाक्टर साहब! यह स्थिति कब तक चलेगी?" डाक्टर बोला–"मैं क्या कह सकता हूँ। चले तो यह स्थिति ६ मास भी चल सकती है, नहीं चले तो

छः घण्टे भी न चले।" वह पुत्र चला गया। देहली अभी वह पहुँचा ही होगा कि फोन गया हरिद्वार से कि–"माता जी चल बसीं, अर्थात् अब वह इस संसार में नहीं रही।"

गीली समिधाएँ सामग्री आदि भी हव्य द्रव्य तो हैं, पर ऐसे हव्य द्रव्य धुआँ करते हैं। उससे आंखो में आँसू आते हैं। ऐसे ही कई की सेवाएँ भी गीली समिधाओं एवं गीली सामग्री के समान होती हैं। इसलिए यह सब करते हुए भी वे रोते–झींकते, हैरान–परेशान होते हुए करते हैं, और कहते हैं–"हम तो यह सब करते हुए थक गए, हार गए, हैरान–परेशान हो गए। न जाने यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा? फिर क्या मैंने ही इनका ठेका ले रखा है? आखिर मैं अकेला ही तो इनका पुत्र नहीं हूँ, और भी तो इनके पुत्र हैं। फिर मुझसे बढ़कर इन्होंने उनको प्यार–दुलार आदि सब दिया है। अब वे भी तो इसको दो चार मास के लिये अपने घर ले जा सकते हैं, कोई अकेला मेरी जिम्मेदारी थोड़ी है। यह सब गीली लकड़ी या गीली हवन सामग्री आदि को हवन कुण्ड में डालने के समान की गई सेवाएँ हैं। अतः पुत्र को चाहिये कि बिना खिजे हुए श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से यथासामर्थ्य उन्हें तृप्त करें, ताकि उसका पितृयज्ञ सचमुच एक ऐसे यज्ञ का रूप धारण करे कि जिसके परिणामस्वरूप सर्वत्र उसकी यशोमय गन्ध फैले।

मनुष्य अतिथियज्ञ एवं बलिवैश्वदेव यज्ञ भी इसी उत्तम भावना से ही करे। वह यह सोचे कि–"देखो, इस विद्वान् संन्यासी

परिवाजक को मैं भोजन कराऊँगा, श्रद्धा, प्रेम और भक्ति से इसकी आव–भगत करूँगा, तभी यह मेरे यहाँ अन्न खायेगा, तो उससे जो रस–रक्त आदि बनेगा, उससे इसके तन–मन आदि सशक्त होंगे। इसको देखने सुनने पढ़ने और बोलने की सामर्थ्य मिलेगी, और यह घूमता–घूमता सुदूर देश में जाकर जब लोगों को सदुपदेश देगा, इससे संसार का कितना उपकार होगा और हमारे उस खिलाए हुए भोजन का कितना सदुपयोग होगा। ऐसे ही मूक प्राणियों के भीतर मेरे द्वारा जब रोटी–दो रोटी उनके उदर में जायेगी वा दीन दुःखियों के काम मेरे द्वारा जो दाना–पानी, कपड़ लत्ते का कुछ उपयोग होगा और उन्हें जब सुख मिलेगा और उनके हृदयों से दुआएँ निकलेंगी तो तब वह सब कुछ भी मुझे कितना अच्छा लगेगा!" यों जब वह सोचेगा और करेगा तो इससे जग में भी उसको सुख मिलेगा और भीतर से भी उस आस्तिक व्यक्ति को प्रभु भी शाबाश देगा, तो इस प्रकार फिर वह और आगे बढ़कर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से अपने हव्य–द्रव्यों से वह सब को कृतार्थ करेगा, और अधिक सबको तृप्त करेगा। यह सब करते हुए जब वह याज्ञिक पुनः अपने उस ब्रह्मयज्ञ–अध्यात्मयज्ञ में अपने आराध्यदेव के समीप बैठता है, और जब वह उसको प्रसन्न–तृप्त करता है, तो तब वह और आगे बढ़कर उसके प्रति इतना समर्पित हो जाता है कि फिर उसका जी करता है कि–"मैं जो भी कुछ करूँ उस प्रभु की इच्छा से ही करूँ, और वह ऐसा करने भी लगता है।" यों शनैः–शनैः करते–करते उसकी फिर कोई अपनी इच्छा

रह ही नहीं जाती। तब तो वही उसकी इच्छा हो जाती है, जो कि उसके प्यारे प्रभु की इच्छा होती है, वही उसकी कामना बन जाती है, जो उसके प्रियतम प्रभु की होती है। उसका अपना तो तब कुछ रहता ही नहीं। उसका सब कुछ तो फिर उस प्रभु का ही हो जाता है जिसके प्रति वह जी–जान से पूर्णतया समर्पित रहता है। फिर तो अपने जीवन में भी वह वही सब कुछ खाना–पीना, देखना–सुनना, सोचना–विचारना, करना–कराना चाहता है जो कि उसके प्रियतम प्यारे प्रभु को भाता है, उसके हृदय सदन में विराजमान हुए हृदय सम्राट् दिव्य देव को भाता है। तब तो फिर वह बाह्य द्रव्यों को ही नहीं, वरन् अपने सच्चे हृदय को भी हव्य बनाकर उस प्रभु के प्रति अर्पित कर देता है, तभी तो एक दिन उसका यह महान् यज्ञ सफल हो जाता है।

(५) कौन तुझको भजते हैं? कौन तुझको उपासते हैं?

"ईडते त्वाम् [1]अरङ्कृतः– अलङ्कृतः त्वाम् ईडते।" हे परमेश्वर! जो अपने को अलङ्कृत करते हैं, वे तुझको स्तुतते हैं–वे तुझको भजते हैं। पर वे नहीं, जो केवल अपने तन को इन वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत करते हैं। सामवेद में एक मन्त्र आता है–

सखाय अनिषीदत पुनानाय प्रगायत। शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये।।

सा० ५६४।।

हे सखाओ! हे मित्रो! हे समान गुण कर्म, स्वभावों वाले

---

१. अरङ्कृतः अलङ्कृतः। (रलयोरभेदः)

महानुभावो! हे एक ही अध्यात्म पथ के पथिको! हे एक ही राह के राहगीरो! आओ, बैठो, और अपने को पवित्र करने वाले हृदय सम्राट् प्राणप्रिय प्रभु का गुणगान करो–स्तवन करो–भजन करो–कीर्तन करो। इतना ही नहीं, तुम इस कार्य के लिये अपने आपको [1](परिभूषत) चहुँ ओर से खूब अलङ्कृत करो, (शिशुं न) ऐसे जैसे कि एक माँ अपने बच्चे को नहला–धुलाकर सुन्दर–सुन्दर वस्त्रादियों से तथा तेल, कंघी, सुरमा आदि से अलङ्कृत करती है। पर इतना ध्यान रहे कि तुम अपने आपको (यज्ञैः परिभूषत) यज्ञ आदि शुभ कर्मों से अलङ्कृत करना। श्रिये यदि तुम में अपने कल्याण की कामना आदि है तो फिर तुम्हें उसके लिए इन जागतिक–इस सांसारिक लोगों के लिये जहाँ अपने को अलङ्कृत करने–सजाने के लिये इन सांसारिक अलङ्करणों की आवश्यकता होती है वहाँ तुम अध्यात्म पथ के पथिकों के लिये इन वस्त्राभूषणों की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ ये दुनियावी लोग अपने श्रोत्रों को सुन्दर–सुन्दर कर्णाभरणों से अलङ्कृत करते हैं, वहाँ अध्यात्म पथ के पथिक [2](श्रोत्रं श्रुतेन न तु कुण्डलेन) अपने श्रोत्रों को शास्त्रों के श्रवण से अलङ्कृत करते हैं, वे अपने इन कानों को सजाने के लिये इन कुण्डलों–इन कान के आभूषणों की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते, (दानेन पाणिर्न तु

१. श्रोत्रं श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
विभाति काया करुणामयानां परोपकारैर्नतु चन्दनेन।।
२. परि+भूष अलंकरणे।

कङ्कणेन) वे सोने चांदी के कङ्गनों या कड़ों से अपने हाथों को नहीं अलङ्कृत करते वरन् वे उन्हें दान–पुण्य आदि शुभ कर्मों से अलङ्कृत करते हैं। वे अपनी काया–शरीर को चन्दन आदि सुन्दर लेपों से नहीं वरन् परोपकारों से उसको सुरभित–सुगन्धित करते हैं।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने हाथों को सोने के सुन्दर–सुन्दर कंगनों–कड़ों से नहीं वरन् दानों से, पुण्यों से, आहुतियों से, सेवाओं से, दूसरों के हितों से, दूसरों का सामान उठाने से, दूसरों का बोझा हलका करने से अलंकृत करते हैं; अपने कानों को सोने–चांदी के कुण्डलों से नहीं वरन् शास्त्रों के श्रवण से, दीन दुःखियों की पुकार सुनने से और उनके दुःख दर्द और पीड़ाओं को हरण करने से अलंकृत करते हैं, तथा जो अपने गले को–कण्ठ को सुन्दर–सुन्दर मालाओं से वा स्वर्णिम मालाओं से नहीं वरन् उससे सबको अच्छी–अच्छी शिक्षा देकर या दुःख में धैर्य–सांत्वना देकर अलंकृत करते हैं, ऐसे उपासक–ऐसे साधक प्रभु को प्रिय होते हैं, और वे ही उसकी अपार अनुकम्पा से अपना वास्तविक कल्याण कर पाते हैं। केवल चन्दन, क्रीम, पाउडर आदि–आदि सुरभित–सुगन्धित द्रव्यों से लिपे पुते हुए एवं वस्त्र–आभूषणों से सजे सजाए हुए व्यक्ति भगवान् को प्रिय नहीं होते। इसलिये उपासक–साधक ऋषि मुनि योगी तपस्वी आदि सब महापुरुष अपने आपको इन बाह्य अलंकारों से अलंकृत नहीं करते वरन् वे तो अपने आपको आन्तरिक गुणरूप अलंकारों से अर्थात्

दान–पुण्य, सेवा–सत्कार, दीन–दुखियों के सहायता सहयोग आदि उत्तम यज्ञमय कर्मों से अलंकृत करते हैं। ऐसे परोपकारमय उत्तम गुणों से अलंकृत महापुरुष वा सद्गृहस्थ जब उस परमेश्वर की उपासना करते हैं तो फिर उनका उपासना में मन भी लगता है और भीतर से जब वे भगवान् से शाबाश पाते हैं तो तब वे फूले नहीं समाते हैं। इस तरह फिर जहाँ उन उत्तम गुणों में अर्थात् दान–पुण्यों आदि में उनकी श्रद्धा बढ़ती है, वहाँ साधना में भी फिर उत्तरोत्तर उनकी रुचि बढ़ती ही रहती है।

कौन तुझको भजते हैं–कौन तुम्हारी आराधना कर सकते हैं? **(२) ईडते त्वामरंकृतः=अरंकृतः– अलंकृतः त्वाम् ईडते।** अर्थात् तुझको वे भज सकते हैं जो अरंकृत–अलंकृतः होते हैं। संस्कृत में अरंकृत–अलंकृत उसको कहते हैं जो 'अलम्' करता है या 'बस' कर सकता है। 'अलम्' का अर्थ होता है 'बस'। (अलंकृत् अलंकृतौ अलंकृतः) 'अलंकृतः' शब्द बहुवचनान्त है। इस प्रकार जो अपने जीवन में 'अलम्'– बस कर सकते हैं वे ही लोग उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु की उपासना–भजन कर सकते हैं।

हमारे एक साथी हैं जो अपनी धर्मपत्नी से शनिवार को यह कहा करते हैं कि–"देवि! आज जो मंगवाना हो, मंगवा लो, जो घर का कार्य हो, करवा लो। कल रविवार है, अतः कल हम घर की कोई बात नहीं सुनेंगे, घर का कोई कार्य नहीं करेंगे। कल हम उस समाज के विषय में पढ़ेंगे, सुनेंगे, सोचेंगे, विचारेंगे

और कुछ न कुछ करेंगे जिसने कि हमें यहाँ तक पहुँचाया है, अर्थात् इसी समाज ने हमें कपड़े बुन–बुन कर कपड़े पहनाए–ओढ़ाए, खेतों में मेहनत–मुशक्कत करके हमें गेहूँ–चना, चावल, शाक–पात, फलादि सब कुछ खिलाया–पिलाया, कापियाँ–किताबें, पैन–पैन्सिल आदि बना–बना कर पढ़ने–पढ़ाने, लिखने–लिखाने में सहयोग दिया आदि–आदि। अब ऐसा समाज जिसने हमें बोलना–चालना, खाना–पीना, पढ़ना–लिखना आदि–आदि सिखाया हो उसके विषय में हम नहीं सोचेंगे तो और कौन सोचेगा? ऐसा वे हर रविवार को प्रायः करते हैं। इस तरह जो मनुष्य घर–परिवार के कार्यों को करने में 'अलम्' कर सकता है, वही मनुष्य समाज वा राष्ट्र का कुछ हित वा भला सोच और कर सकता है या आत्मा–परमात्मा के विषय में कुछ सोच–समझ और कर सकता है। इसके विपरीत जो अपने–अपने घर–परिवार के कार्यों से कुछ ऊपर नहीं उठ सकता है, काम, क्रोध, लोभ, मोह के घेरे को तोड़ कर कुछ आगे नहीं बढ़ सकता है, अर्थात् जो इस विषय में 'अलम्'–'बस' नहीं कर सकता है, वह फिर भला समाज–राष्ट्र वा आत्मोत्थान के लिये भला क्या तो स्वाध्याय सत्संग सेवा और साधना कर सकेगा तथा क्या ही वह किसी का कुछ हित साध सकेगा। उसका तो फिर सारा जीवन ही अपनी ही उधेड़ बुन में समाप्त हो जायेगा।

यमुनानगर में जब हम पढ़ा करते थे तो भोजन करते हुए दाल–भात आदि के लिये परोसने वाले पुनः–पुनः पूछते, तो जिन्हें

कुछ लेना होता, वे तो ले लेते थे और जिनको वह वस्तु नहीं लेनी होती थी तो वे कह देते थे–'अलम्', अर्थात् 'बस'। अब जो लवण जल शाक के लिये बस करना चाहते थे वे 'लवणेनालम्, शाकेनालम्, जलेनालम् आदि–आदि कह देते थे। सो जो व्यक्ति भोजन खाने में 'अलम्' बस करता है, वही उससे निवृत होता है, और फिर वह अपने अन्य कोई कार्य कर सकता है। इसी प्रकार जो प्रातः समय पर शयन–सोने में 'अलम्–बस' कर सकता है, वही समय पर उठकर अपनी साधना स्वाध्याय भ्रमण व्यायामादि कर सकता है। अब जो शयन–सोने में 'अलम्–बस' नहीं कर सकता वह अपने जीवन में कैसे प्रभातकाल का लाभ उठा सकता है? एक व्यक्ति प्रातःकाल उठा भी सही–जगा भी सही, पर उठकर–जगकर भी वह चारों ओर देखता है कि अमुक उठा कि नहीं? तो ऐसा व्यक्ति उठकर भी नहीं उठा–जगकर भी नहीं जगा। ऐसे ही एक व्यक्ति साधना में बैठता है, तो वह सोचता है और इधर–उधर देखता है कि अमुक व्यक्ति बैठा कि नहीं? तो ऐसा व्यक्ति साधना में बैठकर भी नहीं बैठा। ऐसे ही एक व्यक्ति आसन में बैठकर सन्ध्या करते हुए यह देखता है कि अमुक आसन में बैठा कि नहीं, अमुक ने आँखें बन्द कीं कि नहीं, तो ऐसा व्यक्ति साधना में बैठकर भी नहीं बैठा, अपनी आँखें बन्द करने को तैयार होकर भी अपनी आँखों को बन्द नहीं कर सकता, और अपने पिता से बोला कि–"पिता जी! अमुक ने तो आँखें ही बन्द नहीं करीं।" पिता हँसते हुए बोला–"बेटे, तेरी अपनी आँखें बन्द थीं क्या?"

वह बच्चा यह सुनकर नीचे देखता हुआ मुस्कराता रहा। सो जो सोने से 'अलम्' बस नहीं कर सकता, जो तन के हिलने और मन के डुलने से अलम्—बस नहीं कर सकता, जो सोचने—विचारने में अलम्—बस नहीं कर सकता, वह फिर भला कैसे अपनी आँख कान मुख मून्द कर भगवान् की आराधना कर सकता है—उसकी श्रद्धा भक्ति और प्रेम से उपासना कर सकता है? वह भला कैसे अपने आपको निर्विचारता के ऊँचे शिखर पर ले जाकर अध्यात्मप्रसाद प्राप्त कर सकता है? अब जब यह खाना—पीना, बोलना—चालना, देखना—भालना, सोचना—विचारना आदि—आदि सब बन्द होगा, अर्थात् जब यह बहिर्मुखी प्रवृत्ति बन्द होगी, तभी तो अन्तर्मुखी वृत्ति प्रारम्भ होगी। तभी तो सच्ची साधना शुरु होगी—सच्ची उपासना आरम्भ होगी—भगवान् के समीप बैठना सम्भव होगा।

एक व्यक्ति दुकान पर बैठा है। उसके पुत्र जवान हो गये। वे भी दुकान पर आ बैठे। उनके विवाह हो गये। उनके बच्चे हो गए, वे भी पढ़—लिखकर युवा होकर उसी दुकान पर आकर विराजमान हो गए और खूब काम करने लगे। अरे! जब तुम कमाते थे और ये पुत्र खाते—पीते और पढ़ते—लिखते थे। अब वे कमाने लगे तो तुम खाओ—पीओ और वेद पढ़ो—पढ़ाओ, सुनो—सुनाओ। यदि बच्चे खाने—पीने और पहनने—ओढ़ने को कुछ नहीं देते, तो तुम अपनी पेनशन वा जमा राशि आदि खाओ—पीओ और अपने उद्देश्य के प्रति सजग हो जाओ। यह क्या कि पुत्र ही नहीं पौत्र

भी अब दुकान पर आबैठे और तुम उस दुकान से टस से मस नहीं होते! इस प्रकार जब तुम इस कमाने में 'अलम्' नहीं करोगे, तो फिर भला तुम कब इस वेद का स्वाध्याय, सत्संग, समाज सेवा एवं ईश्वर भजन करोगे?

आर्यवानप्रस्थाश्रम में एक सज्जन रहते हैं उनकी माँ भी उनके साथ पहले रहती थी। वृद्धावस्था के कारण जब उनका स्वास्थ्य कुछ ढीला हो गया तो उनको देखने के लिये उनका भाई मेरठ से आया। वह चार–पांच दिन आश्रम में रहा। उसको आश्रम बहुत अच्छा लगा। वह यत्र–तत्र–सर्वत्र इसकी प्रशंसा करने लगा और कहने लगा कि–यह तो कमाल का आश्रम है। इसमें तीन समय सत्संग चलता है। और यहाँ ऐसे–ऐसे विद्वानों की कथाएँ दस–दस, पन्द्रह–पन्द्रह दिनों तक चलती हैं, ऐसे–ऐसे साधु–संन्यासियों के कई–कई दिनों तक सुन्दर–सुन्दर प्रवचन होते हैं, कि बार–बार अनेकों पत्र लिखने पर भी वे हमें बड़ी ही कठिनाई से कभी कभाड़ दो–तीन दिनों के लिये उपलब्ध हो पाते हैं जबकि वे यहाँ कई–कई दिनों तक दर्शनों पर, उपनिषदों पर और वेदों पर सुन्दर–सुन्दर उपदेश देते हैं। यहाँ तो यह सब सहज प्राप्त है। धन्य हैं ये व्यक्ति जो यहाँ रह रहे हैं और आनन्द से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उसी व्यक्ति को यह सब कहते हुए देख–सुनकर हमारे जैसा कोई व्यक्ति कहता है कि–"भाई साहब! यदि ऐसी बात है तो ७० के तो लगभग आप भी अब होंगे ही, आप भी आ जाओ यहाँ, और यह आनन्द लाभ प्राप्त करो।" इस

पर वह व्यक्ति कहता है–"भाई साहब! हमारी मेरठ में एक स्टील के बर्तनों की बहुत बड़ी दुकान है। यों तो मेरे पुत्र ही नहीं, पोते भी अब वहाँ आ बैठे हैं। सब कार्य उन्होंने सम्भाल लिया है। मैं तो अब वहाँ कुछ करता नहीं, केवल गद्दी पर ही बैठा रहता हूँ। पुत्र और पौत्र अपने सेवकों के सहयोग से जितने भी बर्तन बेचते जाते हैं, उतने रुपये वे मेरे समीप रखी हुई तिजोरी में धरते जाते हैं। मैं और तो अब कुछ कर नहीं सकता। रात्रि को घर जाने से पूर्व उन रुपयों को फिर जब मैं गिनता हूँ तो इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यहाँ सत्संग की बड़ी मौज है, सात्विक वातावरण है, शान्त वातावरण है, आबो–हवा = जलवायु भी बहुत अच्छी है, यहाँ आनन्द भी बहुत है, इत्यादि–इत्यादि, पर एक बात स्मरण रखना कि जब मैं सायंकाल उस तिजोरी के रुपयों को गिनता हूँ तो उनके गिनने में जो सुख मिलता है, वह इस आर्य वानप्रस्थाश्रम में और इसके सत्संादि में नहीं मिलता.....।

अब आप ही सोचिये जो पुत्र ही नहीं पौत्रों के दुकान पर आविराजमान होने पर भी वहाँ बैठने और रुपये गिनने में 'अलम्'- बस नहीं कर सकता, वह भला कैसे आर्य वानप्रस्थाश्रम में जाकर स्वाध्याय, सत्संग और साधना में लग सकता है?

एक सज्जन थे जिनका नाम 'श्याम बिहारी लाल' था। वे सम्भवतः दिल्ली किसी आफिस में कार्य करते थे। वे एक दिन अपने आफिस में बहुत लेट पहुँचे। लेट पहुँचने वाला व्यक्ति आफिसर की आँख से कुछ ओझल होकर अपनी सीट पर जाता

है। सो वे भी ऐसा करने लगे। उसके बॉस ने देख लिया और तुरन्त उसे बुला लिया और तुरन्त पूछ लिया–"श्याम बिहारी लाल! घड़ी देखो, क्या समय है?" वे बोले–"साहब, देर हो गई। क्योंकि सन्ध्या करते हुए कुछ ऐसा मन लगा कि समय का पता ही नहीं चला।" बॉस बोले–"श्याम बिहारी लाल! तुम या तो उस सरकार की सेवा कर लो या फिर इस सरकार की।" श्याम बिहारी लाल जी कई दिन से जो बात सोच रहे थे, वह अब सामने आ गई। दो मिनट के लिये आँखें बन्द कीं और झट सर्विस से त्यागपत्र दे दिया। साहब बोले–"श्याम बिहारी लाल! यह तुम क्या कर रहे हो? ऐसी सर्विस अब इस आयु में भला तुम्हें कहाँ मिलेगी? जल्दबाजी में कोई ऐसा निर्णय नहीं लेना चाहिए। अभी तो तुम्हारे चार–पांच वर्ष बाकी हैं। तुम्हें बहुत नुकसान होगा।" श्याम बिहारी लाल बोले– "साहब! अब तो बस जो हो गया, सो हो गया। अब यही ठीक रहेगा।" साहब बोले–"अच्छा तुम्हारा त्यागपत्र मैंने अपनी जेब में रख लिया है। १५ दिन तक मैं तुम्हें समय देता हूँ। तुम अच्छी तरह सोच लेना, फिर मुझे उत्तर देना।" इधर साहब प्रतीक्षा करते रहे, उधर श्याम बिहारी लाल जी ने अपने घर यज्ञ रचाया और पन्द्रहवें दिन वानप्रस्थ की दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर सोचा कि साहब से भी आशीर्वाद ले लूँ, तभी आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर जाऊँ।

साहब प्रातःकाल भ्रमण करके आ ही रहे थे कि एक पीतवस्त्रधारी चट्टी पहने हुए सज्जन ने उनके चरण स्पर्श करते

हुए आशीर्वाद मांगा। ज्यों ही उन्होंने उसे ध्यान से देखा, तो वे चकित रह गए। क्योंकि वह चरण छूकर आशीर्वाद लेने वाला व्यक्ति उसके नीचे कार्य करने वाला 'श्याम बिहारी लाल' था। यह देखकर वे बोले–"साहब! इस सर्विस से अब बस, अब तो हम उसी सरकार की सेवा करेंगे। अब तो हम सत्संग करेंगे, स्वाध्याय करेंगे, समाज सेवा करेंगे और अपने प्राण प्रिय प्रभु का ध्यान–भजन करेंगे। साहब! आप मेरे बॉस रहे हैं। आपने मुझे पर्याप्त स्नेह दिया है और आपके संरक्षण में मैंने बहुत सुख पाया है। अब आप भी मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मेरा यह जीवन भी सफल और सुफल हो।" साहब बोले–"श्याम बिहारी लाल! अब तू मुझसे बहुत आगे निकल चुका है। अब मैं तेरा बॉस–अधिकारी नहीं रहा, अब तो तू मेरा बॉस बन गया है। अब आगे तू मुझे प्रणाम नहीं करेगा वरन् मैं तुझे श्रद्धा से प्रणाम करूँगा, और तेरे चरणस्पर्श करूँगा। अब तुझको मेरे आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं बल्कि अब मुझे ही आपके स्नेह और आशीर्वाद की अपेक्षा है। कहने का अर्थ यह है कि अब मैं तेरा पूज्य नहीं रहा वरन् अब तू मेरा पूज्य बन गया है। अब तू मेरे पीछे नहीं चलेगा वरन् मैं तेरा अनुगमन करूँगा। और तेरे जीवन से शिक्षा और प्रेरणा लिया करूँगा।" सो फिर वे आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में चले गए और अपने उत्तम गुण कर्म स्वभावों के कारण खूब स्वाध्याय, सत्संग, सेवा–साधना आदि करते हुए अपने जीवन को धन्य–धन्य करने में लग गये।

तो इस प्रकार वही व्यक्ति वास्तव में अपने जीवन में स्वाध्याय, सत्संग, सेवा–साधना, ध्यान–भजन आदि कर उस प्राणप्रिय प्रभु का अनुपम प्यार पा सकता है कि जो यह कह सकता है वा यह कर सकता है कि–अब 'अलम्'–बस। अब इस सेवा–नौकरी से बस, इस व्यापार से बस। जो अपने कार्यों को, अपने घर–परिवार के लेन–देन आदि व्यवहारों को 'अलं' नहीं कर सकता, वह भला क्या तो समाज और राष्ट्र की सेवा कर पायेगा, और क्या ही वह स्वाध्याय, सत्संग, ध्यान–भजन आदि कर आत्मकल्याण कर सकेगा! इसलिये उपर्युक्त वेद–मन्त्र के आधार पर प्रश्न उठता है कि कौन तुझको भज सकते हैं? तो इसका उत्तर इस मन्त्र में दिया गया है, वह यह कि–"अरङ्कृतः त्वाम् ईडते"–जो संसार के नानाविध सामान्य कार्यों को 'अलं' कर सकते हैं–*STOP* कर सकते हैं, वे ही तुझ परम पिता परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना कर सकते हैं, वे ही तेरी प्रेरणा के आधार पर समाज में उत्तमोत्तम यज्ञमय निष्काम कार्य कर जहाँ अपने आपको ऊपर उठा सकते हैं, आगे बढ़ा सकते हैं, वहाँ औरों के लिये भी प्रेरणा के स्रोत बनकर उन्हें ऊँचा उठा सकते हैं। जिस 'प्रताप' समाचार पत्र के यशस्वी सम्पादक महाशय कृष्ण जी ने मिलाप समाचार पत्र के सम्पादक महात्मा खुशाल चन्दजी से सदा अपने को आगे माना। वही व्यक्ति जब महात्मा खुशाल चन्द की संन्यास की दीक्षा के समय स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी के वैदिक साधन आश्रम यमुना नगर में आया, तो वे ही महात्मा खुशाल चन्द, जो अब

संन्यासी के रूप में महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती बन गये थे, उन्हें सम्बोधित करते हुए बोला—"खुशाल चन्द! आपने समय—समय पर अपने कार्यों को 'अलं' करके जो वर्षों दो—दो मास एकान्त में जा—जा कर जो तप किया, जो साधना की, जो स्वाध्याय किया, उसी का परिणाम है जो आज आप खुशाल चन्द से महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती बन गए। खुशाल चन्द! आज जीवन की दौड़ में तू अब मुझसे बहुत आगे निकल गया। मैं तो कृष्ण का कृष्ण ही रह गया, पर तू खुशाल चन्द से आनन्द स्वामी सरस्वती बन गया। मैं तो जीवन के द्वितीय पड़ाव में ही अटका रह गया, पर तू जीवन के चतुर्थ पड़ाव पर पहुँच गया। मैं इस गृहस्थ की—इस संसार की दलदल से बाहर नहीं निकल सका, पर तू इसको 'अलं' करके इस दलदल से बाहर निकल कर अन्तिम चौथे आश्रम संन्यास में पहुँच गया। सो आज तू मेरे लिये भी पूज्य बन गया। अतः मैं भी तुझको स्नेह—सम्मानपूर्वक प्रणाम करता हूँ और इस सफलता पर आपको हृदय से बधाई देता हूँ। आपको बड़े ही महान् गुरु स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जी मिले हैं। प्रभु करे आप इनसे प्रेरणा पाकर खूब ऊपर उठें और आगे बढ़ें।"

आर्य विरक्त वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में एक माता जी आयीं। वह यहाँ सत्संग में भी जाती थी, स्वाध्याय भी करती थी, पर उससे जो भी मिलता था, वह कहा करती थी, "रामप्रसाद! यहाँ आनन्द भी आ रहा है, सत्संग भी अच्छा लग रहा है, पर आप ही सोचो कि मैं जब यहाँ आई थी तो मैं पोते को रोता हुआ

छोड़कर आई थी। वह घर में रोज़ तब सोता था जबकि वह मुझसे एक न एक कहानी सुन लेता था। फिर वह भोजन आदि कुछ खाता–पीता भी था तो वह मेरे हाथों से ही खाता–पीता था। फिर हर समय वह दादी माँ–दादी माँ कहता रहता था। पता नहीं, मैं आ तो गई, पर क्या पता, वह ढंग से खाता भी होगा कि नहीं? अच्छी तरह सोता भी होगा कि नहीं? पता नहीं वह पुनः–पुनः मेरे ही स्थान पर जा–जाकर मुझे ढूँढता होगा या अपने माँ बाप में घुल मिल गया होगा? यहाँ भी रामप्रसाद! हमने दस–पन्द्रह दिन रहकर पर्याप्त सुन लिया है, और घूम–फिर कर भी हरिद्वार, ऋषिकेश आदि सब देख लिया है। यही सारे भजन या व्याख्यान तो हम अपनी आर्य समाज में भी सुन ही लेते हैं। फिर वानप्रस्थ आश्रम में भी क्या रखा है? यहाँ भी जहाँ दो चार माताएँ–बहिनें इकट्ठी बैठती हैं तो वही गली–मौहल्ले वाली नारियों की तरह निन्दा स्तुति प्रारम्भ हो जाती है। फिर घर में थी, तो बहु बिचारी गर्म पानी भी दे देती थी। चाय का प्याला भी अपने आप पहुँच जाता था। उससे ज़रा तन में चुस्ती भी आ जाती थी। ठीक है, कभी कभार थोड़ी बहुत कहा–सुनी भी हो जाती थी। पर कुछ भी हो, आखिर तो वह अपनी ही बहु है न......! इतने में घर से पत्र आ गया कि–"माँ जी! क्या कहूँ, जबसे आप गई हैं, न तो बच्चा ढंग से खाता–पीता है, न ही ढंग से सोता है, और कहता है कि पहले दादी से कहानी सुनूँगा, तब रोटी खाऊँगा, दूध पीऊँगा वा सोऊँगा इत्यादि।" दादी का वैराग्य तो पहले से ही

ढीला पड़ रहा था। पत्र आते ही वह उसी दिन गाड़ी पर चढ़ गई। जो इस प्रकार वानप्रस्थ में आकर भी मन को पोते–दोहतों के मोह से 'अलम्' नहीं कर सकते, उनका वानप्रस्थ में आकर भी भला फिर कैसे जी लग सकता है, और कैसे वे स्वाध्याय, सत्संग, ध्यान–भजन आदि में एकाग्र हो सकते हैं? इसलिये अपने मन में जो पहले इन सबको 'अलं' बस कर लेता है, वही अपने जीवनोद्देश्य में सफल हो पाता है। उसी का ही फिर वानप्रस्थाश्रम में, सन्ध्या–उपासना में मन लगता है। एक और माँ जब इसी आश्रम में आई तो वह आकर इतनी प्रसन्न हुई कि वह पुनः–पुनः यह कहती रही कि–"मैं पहले क्यों यहाँ नहीं आ गयी? उसको सत्संग भाता था, स्वाध्याय में उसका दिल लगता था, उसको भजन गाना और सुनना अच्छा लगता था, उसको वेदपाठ करना अच्छा लगता था, एकान्त में ध्यान करना उसको प्रिय लगता था, आदि–आदि। उसके पास जब अपने बहू–बेटे, पोते–दोहते, आते थे, तो वे उससे पूछते थे–"दादी माँ, नानी माँ! आपको कभी हमारी याद नहीं आती?" दादी माँ बोलती थी– "बेटा, भला अपने बच्चे भी किसी को भूलते हैं क्या? पर बेटा, जब मैं कुछ स्वाध्याय करती हूँ या व्याख्यान भजन सुनती हूँ, वा ध्यान–उपासना करती हूँ, तो तब प्रायः मैं अपने आपको भी भूल जाती हूँ। अब प्रिय बेटे, जब मनुष्य कभी ऐसी स्थिति में पहुँच जाए कि वह अपने आपको भी भूल जाए, तो तू फिर बता, भला वह उस समय और किसी को कैसे स्मरण रख सकता है? किसी ने बेटा ठीक ही कहा है–

"क्या कहें क्या भक्त पाता है प्रभु के ध्यान में।
कुछ अलौकिक रस मिले जब मन लगे भगवान् में।।"

परन्तु बेटा, फिर भी मैं उस प्यारे प्रभु का हृदय से धन्यवाद करती हूँ कि जिसने मुझे आप जैसे प्यारे–प्यारे पोते–दोहते दिये हैं।" ऐसी माँ जो मन से 'अलं' बस करके घर–परिवार से ऐसी साधना स्थली में आती है, तो उसको यदि परिस्थितिवश घर–परिवार में जाना भी पड़ता है तो वह वहाँ जाकर भी पुनः यहाँ आने के लिये दिन गिनती रहती है.....।

एक साधक बड़ी तड़प के साथ कहता है–"कब भजूँगा शुद्ध मन से मैं तुझें?" हमारा सन्ध्या–उपासना, भजन पूजन में मन क्यों नहीं लगता? इसलिये न, कि हम अपने मन में इन सब बातों को 'अलं' बस नहीं कर पाते। **"अलं दर्शनेन, अलं श्रवणेन, अलं वदनेन, अलं चिन्तनेन"** आदि के द्वारा यदि हम देखना सुनना बोलना विचारना बन्द कर दें, तो फिर हम शान्तचित्त होकर ध्यान कर सकने या निर्विचार वैशारद्य स्थिति को पाकर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त कर सकते हैं।

एक बार मैं सन्तरे छीलकर अतिथियों को खिला रहा था तो एक बहिन अपने हाथ में रखी हुई सन्तरे की पहली फांक दिखाते हुए बोली–"भाई साहब! अभी तो पहली फांक ही हमारे हाथ में है तो फिर दूसरी कहाँ से लूँ!" सो जो किसी वस्तु आदि से अलं–बस कर सकता है, वही व्यक्ति उससे निवृत्त होकर आगे बढ़ सकता है। योग क्या है? योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि जी

कहते हैं–''**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'' चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। पर यह चित्तवृत्तिनिरोध हो कैसे? तो इसका उत्तर देते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ''**अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोध।**'' अभ्यास और वैराग्य से चित्त में उठने वाली इन वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है। अभ्यास–योगाभ्यास भी मनुष्य तब कर सकता है जबकि मनुष्य में वैराग्य हो। तभी पतञ्जलि ज़ी कहते हैं कि–''हे मनुष्यो! तुम वैराग्य से युक्त होओ, ताकि तुम्हारा अभ्यास सहज चल सके। इस राग का ही तो सब रोना है। यही एक राग ही तो मनुष्य को साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ने देता–प्यारे प्रभु का प्यारा नहीं बनने देता–उसके प्रति समर्पित होकर जी–जान से उसका गुणगान नहीं करने देता। मनुष्य का यही राग जब धन के प्रति हो जाता है, तो तब यह 'लोभ' कहलाता है, जब यह बन्धु–बान्धवों अर्थात् सम्बन्धियों के प्रति हो जाता है, तो तब यह मोह कहलाता है, जब यह रूप स्पर्श आदि के प्रति हो जाता है, तो तब इसे काम की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य के इस काम लोभ मोह आदि में कोई रुकावट उत्पन्न करता है या बाधक बनता है, तो उस मनुष्य में फिर उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। फिर इस क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य सबकी निन्दा करता है, उसको मारता–पीटता वा हानि पहुँचाता है। और अगर ये लोभ मोह काम सहज ही पूर्ण होते रहते हैं तो फिर मनुष्य में अभिमान–अहँकार उत्पन्न होता है, और वह कहता है कि–''देखो, मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि इतने कम नम्बर आने

पर भी मुझे सर्विस मिल गई, जबकि अमुक–अमुक के इतने अच्छे अंक आए हैं, तो भी वे सर्विस के लिये मारे–मारे फिर रहे हैं। सो मनुष्य में उत्पन्न होने वाले ये सब काम क्रोध लोभ मोह और अहँकार आदि इसी राग की ही सन्तान हैं। अतः योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि जी ने कहा है कि–"हे साधको! तुम अपने भीतर राग के स्थान पर वैराग्य उत्पन्न करो, तभी तुम सहज ही काम क्रोध लोभ मोह अहँकार आदि पर विजय पाकर सहज ही अभ्यास–योगाभ्यास आदि कर सकोगे। सो इस प्रकार योगाभ्यास–साधना करने के लिए मनुष्य को राग में 'अलं' करना ही चाहिये।

ऐसे ही जो खाने–पीने में 'अलं'–बस नहीं कर पाता और स्वाद के कारण अधिक खा जाता है, तो फिर वह प्रातः शीघ्र उठ नहीं पाता वा जग कर भी आलस्यवश निद्रा–तन्द्रा में बिस्तर पर पड़ा ही रहता है। तो फिर ऐसा व्यक्ति भला साधना भी क्या कर पायेगा। जो रात दस बज जाने के उपरान्त भी गप्पें मारता रहेगा टी.वी. आदि देखता रहेगा, तो फिर वह प्रातः चार बजे उठकर भला कैसे प्रभु शरण में बैठ सकेगा? इस प्रकार पर्याप्त आयु हो जाने पर भी जो इन सांसारिक घर परिवार वा व्यापार–व्यवहार के कार्यों को अलं– नहीं कर सकता–बस नहीं कर सकता, तो वह भला फिर अपने जीवन में कैसे आगे बढ़कर आन्तरिक जीवन के उत्थान के कार्य में लग सकेगा?

माल बिका या नहीं बिका, माल मेहँगा हो गया या सस्ता

हो गया, व्यापार में घाटा हुआ अथवा लाभ हुआ, अब तू यह सब कुछ पुत्रों पर छोड़कर जो भी रूखी–सूखी वा चुपड़ी मिले, उसको श्रद्धा–प्रेम से खा–पीकर अब प्रभु भजन में लग, कुछ परोपकार में लग, कुछ सेवा आदि के कार्यों में लग, कुछ स्वाध्याय सत्संग में लग। फसल कटी या नहीं कटी, खेत में अन्न पर्याप्त हुआ या थोड़ा हुआ, यह सिरदर्द तो अब इन बच्चों का है। पोते तक अब दुकान पर आ बैठे, अब तू काहे को 'रिन' टिनोपाल लगा–लगा कर उजले कपड़े पहनता है, और ग़िज़ाब लगा–लगा कर इन उजले–श्वेत–धवल केशों को काला कर–करके अपने साथ–साथ औरों को भी धोखा देता है। अरे अब तू इन बालों को होने दे श्वेत–सफेद, अब तू इन वस्त्रों को भी स्वच्छ रख तथा इस हृदय को भी पवित्र रख। तेरे बाल सफेद हैं 'उन्हें तू ग़िज़ाब लगा–लगा कर काला दिखा रहा है और मन है तेरा मलिन–काला, उसे तू उजला–शुभ्र जतला रहा है। इस बनावट से तू अब ऊपर उठ। अब तू इन श्वेत केशों को श्वेत अर्थात् सफेद बालों को सफेद और मैले मन को मैला ही बता और जता, ताकि तू उसको धोकर साफ सुथरा करके श्रद्धा और प्रेम से प्यारे प्रभु को भज सके।

एक बार एक व्यक्ति के साथ उसकी धर्मपत्नी जा रही थी तो किसी ने नारी के काले और पुरुष के श्वेत केशों को देखकर पूछा कि–"क्या यह आपकी बेटी है?" इस पर वह व्यक्ति बोला–"नहीं, यह मेरी धर्मपत्नी है। वह बोला–"लगती तो नहीं।" इस पर वह व्यक्ति बोला कि–"इसने बाल डाई कर रखे हैं, हमने

नहीं। वैसे यह बड़ी धर्मात्मा है, किसी को धोखा नहीं देती, पर बालों से तो यह भी सबको धोखा ही दे रही है।

सो वेद कहता है कि–हे मनुष्यो! इस आयु में तुम बालों से, वस्त्रों से, आभूषणों से अलंकारों से, कोट–पेंट–टाई आदि से अपने को अलंकृत मत करो। भला क्या अच्छा लगता है कि नीचे कोट पेंट टाई आदि हो और ऊपर पीतवस्त्र–वानप्रस्थों का पीला वस्त्र धारण किया हुआ हो। यह सब कुछ इस जीवन में अब क्या अच्छा लगता है। सो तुम इस जीवन में सात्विक स्वच्छ वस्त्रों से और सात्विक सुन्दर यज्ञमय कर्मों से अपने आप को अलंकृत करो, और जीवन में ऊँचा उठने और आगे बढ़ने के लिये तुम इन सब बातों से 'अलं–बस' करना सीखो। तभी ही तुम जहाँ इन सब बातों से ऊपर उठ पाओगे वहाँ तुम अपने प्रियतम प्यारे प्रभु को भी श्रद्धा भक्ति से भज पाओगे।

सो जो मनुष्य खाने–पीने में 'अलम्'–बस करना जानता है, वह शरीर से नीरोग रहता है। पर जो खाने पीने में यथासमय 'अलं' नहीं कर पाता, वह शरीर से रोगी हो जाता है। इसी तरह जो समय आने पर घर–परिवार और व्यापार–व्यवहारों में 'अलं' नहीं कर पाता, वह घर–परिवार की दल–दल में सदा धंसा और फंसा ही रह जाता है। पर जो इसमें 'अलं' अर्थात् *STOP*–बस, और नहीं, यह कह पाता है, वह इससे ऊपर उठकर जहाँ अपने जीवन को निखार पाता है, अपने जीवन को कुछ बना पाता है, वहाँ वह अपने प्रियतम प्रभु की भी श्रद्धा–भक्ति से आराधना कर

पाता है एवं समाज के अभ्युत्थान के लिये भी कुछ कर पाता है। महात्मा गाँधी और महर्षि दयानन्द सरीखे महापुरुष समय पर खान–पान, बात–चीत, निद्रा–तन्द्रा आदि में 'अलं' बस कर पाते थे, तभी ही वे महान् व्यक्तित्व के धनी बनकर इतना कार्य भी कर सक पाते थे और अपने प्यारे प्रभु का भजन भी कर लेते थे।

एक सज्जन ने ५० वर्ष की आयु में अपने गृहस्थाश्रम की रजत जयन्ती –सिल्वर जुबली मनाई। उन दोनों के जीवन के २५ वर्ष सुखद व्यतीत हुए। हमने उनको इस सफल और सुफल जीवन पर हृदय से बधाई दी। दूसरे ने अपनी ७५ वर्ष की आयु में गृहस्थ आश्रम के ५० वर्ष सफलतापूर्वक व्यतीत करने पर अपनी स्वर्णजयन्ती–गोल्डन जुबली बड़े धूम–धाम से ज्वालापुर में मनाई, और कहा कि मैं आगे चलकर अपने इस गृहस्थाश्रम की हीरक जयन्ती अर्थात् डायमण्ड जुबली भी मनाना चाहता हूँ। परन्तु मैंने सोचा और मन ही मन उस व्यक्ति को कहा वा कोसा कि–"अरे! तू इस बात पर फूला नहीं समाता कि तू जीवन के ५० वर्षों तक इस पत्नी एवं इससे उत्पन्न होने वाले पुत्र–पुत्रियों का मुख देखता रहा और ये तेरी सूरत देखते रहे, और आगे भी तू इसी दल–दल में पड़ा हुआ इन्हीं का मुख निहारते हुए तू हीरक जयन्ती–डायमण्ड जुबली मनाने के स्वप्न देख रहा है, तो तू बता कि जिस प्यारे प्रभु ने तुझको यह सुख–सौभाग्य दिया, उस प्राणप्रिय प्रभु को तू कब निहारेगा? तू कब उसका साक्षात्कार करेगा? उसकी श्रद्धा,

भक्ति और प्रेम से तू कब आराधना करेगा? पर वह बिचारा तो आगे चलकर तीन वर्ष के उपरान्त इस जगत् से ही कूच कर गया और उसका हीरक जयन्ती का स्वप्न केवल स्वप्न बनकर ही रह गया। सो जो अपने जीवन में २५ वर्ष की रजतजयन्ती और ५० वर्ष की दाम्पत्य जीवन की स्वर्णजयन्तियाँ ही मनाता रहेगा, अर्थात् जीवन के इस लम्बे मूल्यवान समय में केवल अपनी पत्नी एवं पुत्रों को ही निहारता रहेगा, अर्थात् उन्हीं में वह डूबा रहेगा और वहीं से ही 'अलं' नहीं कर पायेगा, तो फिर वह अपने सबसे प्यारे और सबसे न्यारे परम पिता परमात्मा का दर्शन कब कर पायेगा? अतः वेद कहता है कि जो इधर से 'अलम्'–अर्थात् 'अब और बस', यह कह और कर पाता है, वही नर ही इस दलदल से निकल कर उस प्यारे प्रभु का ध्यान–भजन कर अपने जीवन को धन्य–धन्य कर पाता है।

पिछले वर्षों में मुझे एक दम्पति युगल व्यास आश्रम के शिविर हरिद्वार में मिला। उनमें से नारी मुझसे बोली–"भाई साहब! इनको पता नहीं क्यों इतना गुस्सा–क्रोध आता है। आजकल ये बहुत गुस्सा करते हैं। आप इन को समझाओ।" फिर जब मैं उनको समझाने लगा, तो वे बोले–भाई साहब, मैं क्या कहूँ। मेरी यह पत्नी अब मुझे प्यार ही नहीं करती। अब ये मेरे तीनों पुत्रों, बहुओं और पोतों को ही प्यार करती है।" यह सुनकर मैं बहुत हँसा, और मुझे तब महर्षि मनु का वह श्लोक भी स्मरण हो आया, और तब मेरी समझ में भी वह श्लोक बैठ गया, तथा मैंने कहा कि

मनु महाराज ने ठीक ही कहा है कि–"**पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा**"–पुत्रों के पास अपनी स्त्री को छोड़कर वनवास ले लेवे, या फिर नारी भी साथ चलना चाहे तो उसे भी साथ लेकर वन में प्रस्थान करे।

मैंने उससे कहा–"अरे भाई साहब! इसमें क्या बात है? यह यदि तुम्हें प्यार करती है तो तुम इसको अपने साथ वानप्रस्थाश्रम में ले चलो, और यदि यह अपने पुत्र–पौत्रों को प्यार करती है, तो इसे उनके पास छोड़कर अर्थात् इनसे "अलं" करके आगे बढ़ो, और साधना करते हुए अपने लक्ष्य के प्रति सजग हो जाओ। यह तो तुम्हारा सौभाग्य है कि यह अब बच्चों से प्यार करती है, तुमसे तो नहीं। इससे तो तुम्हारी जान सहज ही छूट गई। भगवान् का धन्यवाद करो। यह सिल्वर जुबली इनके साथ मनाई, अगली गोल्डन जुबली अपने प्राणप्रिय प्रभु के साथ मनाओ और उसके पावन चरणों में एकाग्र होकर उसका अद्वितीय आनन्द पाओ।

एक माँ का पोता प्रातः ही अपनी दादी माँ की गोद में आ बैठा। उसकी दादी बोली–"जा बेटा खेल, मैं सन्ध्या करूँगी।" बच्चा बोला–"दादी! क्या मैं आपको अच्छा नहीं लगता जो मुझे अपनी गोद से उठा रही हो।" दादी बोली–"बेटा! तू मुझे बहुत अच्छा लगता है। इसलिये जिस प्रभु ने तुम्हें हमें प्रदान किया है, सो उस प्रभु का मैं सन्ध्या में धन्यवाद करना चाहती हूँ, इसलिये तुम को खेलने भेज रही हूँ। बच्चा चला गया। सो जो इधर से 'अलम्' कर सकता है, इस मोह में विराम कर सकता है, वही

उस प्यारे प्रभु का ध्यान–भजन और कीर्तन कर सकता है। कई व्यक्ति जो इस जीवन में इधर से 'अलम्' नहीं कर पाते, तो फिर वे अपने जीवन में 'अलं–कृत' अर्थात् प्रभु के ध्यान–भजन से सुसज्जित भी नहीं हो पाते। इसलिये वे उस प्यारे परमेश्वर को भज भी नहीं पाते–उसकी उपासना कर उसका साक्षात्कार भी नहीं कर पाते।

इस 'अलम्' शब्द का एक अर्थ और भी है। वह है–'पर्याप्त' अर्थात् 'काफी'। माँ ने अपने बच्चे को खीर परोसी। बेटे को वह बहुत अच्छी लगी। माँ ने और परोस दी। बेटे ने खीर खाते हुए पुनः खीर की प्रशंसा की, और कहा–"माँ जी! खीर बहुत अच्छी बनी, आनन्द आ गया।" माँ बोली–"बेटा, मैं और देती हूँ। तू खूब खा ले।" बेटा बोला–"माँ! 'अलम्'–माँ इतनी ही पर्याप्त है–इतनी ही काफी है। यही खा लूँ, तो बहुत है।" एक व्यक्ति ६० वर्ष की आयु में सेवानिवृत्त हो गए–रिटायर हो गए। उसको किसी ने आकर कहा–"भाई साहब! अभी तो आप पर्याप्त युवा (यंग) हैं, सशक्त और क्रियाशील (एक्टिव) हैं। आप अब भी दस–पन्द्रह वर्ष और कार्य कर सकते हैं और पर्याप्त धन–वैभव अर्जित कर सकते हैं। दूसरा आप में सूझ–बूझ भी है, चाहें तो आप एक फैक्ट्री स्थापित कर घर–परिवार को आर्थिक दृष्टि से खूब सम्पन्न कर सकते हैं।" यह सुझाव सुनकर वह व्यक्ति कहता है–"भाई साहब! अलमिदम्–पर्याप्तमिदम्, अर्थात् इतना काफी है। मेरे प्यारे बन्धुवर! कार्य का तो कोई अन्त नहीं, जितना भी कर लो, उतना

ही कम प्रतीत होता है। ऐसे ही धन की भी कोई सीमा ही नहीं, जितना भी कमा लो, कम ही लगता है। परन्तु हम यह सोचते हैं कि जितना कार्य हमने किया है, वह पर्याप्त है, वह काफी है। ऐसे ही हमने जितना धन कमाया है, वह पर्याप्त है–काफी है। यदि हम ढंग से खाएं–पीयें, ओढ़े–पहनें, तो इसको भी नहीं भोग सकते। इसलिये अब तक जो कार्य भी हमने किया है वही हमको पर्याप्त है, वही काफी लगता है। जो रुपया–पैसा हमने अर्जित किया है, वह पर्याप्त है–वह काफी है–वह बहुत है। सो अब इस कार्य को, इस धन–वैभव को पर्याप्त समझ कर अब हमने जीवन में जो स्वाध्याय, जप–तप, दान–पुण्य, सेवा–सत्संग और जो ध्यान–भजन आदि जो कुछ भी नहीं किया, अब हम उस सबके करने में लगें, इसी में ही अब हमारा हित है–इसी में ही अब हमारा कल्याण है। रुपया–पैसा तो सब यहीं रह जाने वाली चीज़ है। अतः उसके पीछे न पड़कर अब हमें वह धन अर्जित करना चाहिये, जो हमारे साथ जा सके। यों तो युवावस्था में हर कार्य ठीक होता है, पर चलो जब भी आँख खुल जाए तभी से ही सवेरा हुआ जानकर अपनी राह पर मनुष्य चल पड़े, तो भी ठीक है। सो शेष आयु को अब मैं इन ठीकरों के इकट्ठे करने में नहीं लगाऊँगा बल्कि इस शेष जीवन में तो मैं वह आन्तरिक धन अर्जित करूँगा, जो मुझे इस लोक में जहाँ स्तुत्य बना सके वहाँ प्यारे प्रभु के अद्वितीय प्यार का भी भाजन बना सके।

एक सज्जन ने स्वयं समाचार पत्र पढ़ लिया तो वे समीप

बैठे हुए दूसरे व्यक्ति से बोले–"अखबार पढ़ लो, भाई साहब !" इस पर वह व्यक्ति बोला–"भाई साहब ! पर्याप्त अखबार–समाचार पत्र पढ़ लिये। वही घिसी–पिटी बातें हैं। कुछ विभिन्न पार्टियों की राजनीतिक, कुछ मारकाट की, कुछ निन्दा–स्तुति की, कुछ बलात्कार, चोरी–चकारी और भ्रष्टाचार आदि–आदि की। इन समाचार पत्रों को अब तक इतना अधिक पढ़–सुन लिया है कि अब इनको देखने को भी मेरा जी नहीं करता। अब इनके पढ़ने–सुनने में मैं जीवन का यह मूल्यवान समय और नष्ट नहीं करूँगा। अब तो इन वेद–शास्त्र–उपनिषदों और सच्चे–सुच्चे महापुरुषों के जीवन चरित्रों आदि के स्वाध्याय तथा इनके सत्संग आदि में मैं अपना शेष जीवन लगाऊँगा। अब तो प्राण प्यारे प्रभु के भजन–पूजन और ध्यान–समाधि में मैं अपने जीवन का समय सार्थक करूँगा। उसी से ही हमारे जीवन का कल्याण होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

स्त्री–पुत्र और पुत्रियों को, पति–पुत्र और पुत्रियों को तथा अपने परायों को अब बहुत देख लिया, इनको बहुत प्यार–दुलार दे दिया। और फिर यह तो ऐसा सिलसिला है कि कभी समाप्त ही नहीं होता। हाँ हम ज़रूर समाप्त हो जाते हैं। अतः अब शेष जीवन को साधु–सन्तों और विद्वानों के संग में रह–रह कर समाज सेवा और प्यारे प्रभु के ध्यान–भजन में और उसके साक्षात्कार करने में लगाने को जी करता है।

यों परिवार का भी अपने ढंग का सुख है। अतः मैं अपनी

पत्नी के समीप भी पर्याप्त रहा, प्रिय पुत्र–पुत्रियों के पास भी बहुत रहा, ग्राम नगर वा शहरों में अपने यार–दोस्तों के साथ रह–रह कर मैंने जीवन का पर्याप्त समय गप्प–शप में खोया। घर–परिवार में रहते हुए एक से एक बढ़कर स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाए, ये सुन्दर और बढ़िया से बढ़िया कपड़े लत्ते भी खूब पहने–ओढ़े, ये कार–कोठियाँ भी पर्याप्त देखीं, ये पद–प्रतिष्ठायें भी बहुत देखीं, और भोगीं, मान–सम्मान भी बहुत पाया, सेवा–शुश्रूषायें भी बहुत पायीं, शंसाएं–प्रशंसायें भी बहुत सुनीं, स्वागत–सत्कार भी पर्याप्त देख लिये, ये पोते–पोतियाँ और दोहते–दोहतियाँ भी जी भरकर देखीं, इन टी.वी., वी.सी.आर. और फ्रिज आदि–आदि के भी बहुत सुख पा लिये। 'अलम्'–बस यह अब बहुत हो लिया, बस अब यह पर्याप्त–काफी हो लिया। अब तो जी करता है कि मैं उस अद्‌भुत दिव्य देव को देखूँ, जिसकी यह सब रचना है–जिसकी इस प्यारी रचना में मेरे जीवन के ६० वर्ष ऐसे व्यतीत हो गए कि मुझे पता ही नहीं चला। क्योंकि मैं इसमें पर्याप्त रचा–पचा रहा–पर्याप्त खुश–प्रसन्न रहा। तभी तो इतना लम्बा समय ऐसे सहज व्यतीत हो गया और मुझे पता भी नहीं लगा। पर अब तो मुझे यह देखना है कि–

जिसकी रचना इतनी सुन्दर, वह कितना सुन्दर होगा।
भीतर झाँक के उसको देखो, तो उसका अनुभव होगा।।
जिसकी सृष्टि इतनी प्यारी, वह कितना प्यारा होगा।
आँख मून्द कर उसको देखो, तो उसका दर्शन होगा।।

इस प्रकार जो यह कह पाता है कि–"अलम्–इतना काफी है–इतना पर्याप्त है। इतना बच्चों ने दे दिया, और यह हमारे लिये काफी है–यह पर्याप्त है, शेष और अन्यों को दे देंगे।" फिर जैसे इन बाल–बच्चों को दिया, पर उसको न ही कहीं जताया, न ही कहीं बताया, और न ही कहीं गाया। ऐसे ही हम अब अन्यों को भी बिना कहीं जताए, बताए और गाए देंगे। हमने तो पर्याप्त भोग लिया, पर्याप्त खा–पी लिया, और पर्याप्त पहन–ओढ़ लिया तथा पर्याप्त देख–भाल लिया। अब तो हमें बहुत सीधा–सादा खाने–पीने और पहनने–ओढ़ने को चाहिये। जितना भी हमारा यह सब कुछ सामान परहित में काम आ जाए, उतना ही अच्छा है।

ऐसे व्यक्ति का तो तब जीवन ही बदल जाता है। बोरियों आटे, चीनी, चावल, चने, दालों और गेहूँ आदि की अब वह सुपात्रों को भेज देता है। पर यह सब कुछ भेजता भी वह अन्यों के द्वारा ही है ताकि उसका कोई फोटो लेकर उसको दाता के रूप में कहीं कोई बताए नहीं, गाए नहीं। अब उसे यदि कोई कहता भी है कि लोग आपका चित्र लेना चाहते हैं, तो वह यह कहता है कि–"क्या होगा मेरे इन चित्रों से, चित्र तो महापुरुषों के देखने लायक होते हैं जिनके पीछे उनका प्रत्येक क्रियाकलाप–प्रत्येक आचरण देखने–सुनने और गाने तथा प्रशंसा करने योग्य होता है।

अब उसे कोई कहता है कि–"भाई साहब चलो देश–विदेश

घूम आएँ।" तो वह कहता है–"भैय्या, हम पर्याप्त घूम लिये, हमने पर्याप्त देश–विदेश देख लिये। "अच्छा तो अब आप कुछ खा–पी लो" यह कोई कहता है तो तब वे कहते हैं कि–"हमने पर्याप्त खा–पी लिया, यदि कोई कहता है कि–"कुछ बढ़िया पहन–ओढ़ लो", तो वे कहते हैं कि–हमने पर्याप्त पहन–ओढ़ लिया। यदि कोई कहता है कि–"आपका आज वहाँ स्वागत है", तो वे कहते हैं कि–"पर्याप्त स्वागत–सत्कार देख लिये।" अब तो दिल करता है कि मैं उसकी शरण में बैठूँ, उसको ही गुनगुनाऊँ, उसी को ही झूम–झूम कर गाऊँ, कि जिसकी कृपा से यह सब कुछ खूब पाया, यह सब कुछ खूब देखा–भाला, और यह सब कुछ खूब खाया–पीया, पहना और ओढ़ा।" सो वह इस उपर्युक्त मन्त्रानुसार अपने इन्हीं विचारों में डूबा हुआ–हुआ उसी को निरन्तर निम्न शब्दों आदि में गुन–गुनाने, उसी को ही गाने–उसी को ही भजने में लग–लग कर शनैः–शनैः ध्यान समाधि द्वारा उसी का ही हो जाता है।

मनुवा ओम् ओम् बोल, मनुवा ओम् ओम् बोल।

कञ्चन सा नरतन यह तूने, पाया है अनमोल।। मनुवा–
इस कञ्चन के प्याले में तू, ओम् नाम रस घोल।। मनुवा–
भाई बन्धु और कुटुम्ब कबीला, इनमें बहुत न डोल।। मनुवा–
कंकर–पत्थर छोड़ के मनुवा, मोती–मोती रोल।।
मनुवा ओम् ओम् बोल, मनुवा ओम् ओम् बोल।।

—o—

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" में श्रद्धापूर्वक दान देने वालें महानुभावों की सूची

१.	भाई मुकेश और कविता (धर्मपत्नी), बडौदा	५०० रु.
२.	श्री रामपत आर्य, कानीना मण्डी (महेद्रगढ)	२०० "
३.	ब. लाली देवी जी, नाहन (हि.प्र.)	१०० "
४.	ब. उमा कान्त सुपुत्र स्व. श्री देशबंधु, फरीदाबाद	५०१ "
५.	श्री मुक्तानंद जी, फरीदाबाद	१०० "
६.	आर्य समाज, यमुनानगर	१०० "
७.	श्री प्रेमदास अ.स. चूनामण्डी, देहली	१०० "
८.	ब. सुशीला जी, दिल्ली	१०० "
६.	श्री विशन दास कटोच, बी.एच.ई.एल.	२०० "
१०.	गुप्त दान	१०० "
११.	फुटकर	३०० "
१२.	श्री रामसिंह आर्य समाज, जलालाबाद	१०० "
१३.	वरुण की दादी, ज्वालापुर	१०१ "
१४.	गग्रेट, फुटकर	२०१ "
१५.	श्री सुशील कुमार (ब.सुषमा जी) मोहनाश्रम	२०१ "
१६.	गुप्त	१०१ "
१७.	स्त्री आर्य समाज, कीर्तिनगर	१०० "
१८.	डी.पी. सेठी, दिल्ली	१०० "
१६.	श्री रामेश्वर दयाल जी, गुडगांव	१०१ "
२०.	ब. दयारानी अनूपनगर, इन्दौर	१०० "
२१.	श्री देवदत्त आर्य समाज, भारत नगर, गाजियाबाद	१०१ "
२२.	श्री हंसराज जी खेर, दिल्ली	५०० "
२३.	श्री ब्रह्मानंद शर्मा आर्य समाज नया बांस, दिल्ली	१५० "
२४.	श्री रामानन्द भारद्वाज, खारी बावली, दिल्ली	१०० "
२५.	आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब	५०० "
२६.	श्री शिवकुमार नारंग सुपुत्र जयदेव, ज्वालापुर	१०१ "

२७.	ब. प्रकाशवती सहाय, नवीननगर, कानपुर	१०१ "
२८.	श्रीमती कृष्णा देवी जी, चन्दौसी	१०१ "
२६.	श्रीमती कान्ता देवी, सोनीपत	२०० "
३०.	श्री हरबंस लाल कुमार, सिविल लाईन, मुरादाबाद	४०० "
३१.	जुही ढण्ढ, गाजियाबाद	१५० "
३२.	सुनाली सुपुत्र बहिन किरण मल्होत्रा, दिल्ली	२५० "
३३.	श्री अरुण कुमार, दिल्ली	१०० "
३४.	श्री कृष्ण देव प्रार्थना सभा आश्रम खड़खड़ी, हरिद्वार	२०० "
३५.	श्री बाबू लाल गुप्ता, ग्वालियर	१०० "
३६.	श्री आर.डी. वर्मा, ग्वालियर	२०० "
३७.	आर्य समाज जमनानगर, फुटकर	४५२ "
३८.	ब. कमल जुनेजा, मुंबई	४२५० "
३६.	श्री वेदरत्न जी, अजमेर	५०० "
४०.	बहिन सुशीला	१०१ "
४१.	श्रीमती जमना माता की बेटी भगवान देवी जी	१५० "
४२.	श्री सूरि`जी प्रधान आ.स. अनारकली, दिल्ली	२०० "
४३.	ओम प्रकाश वेदालंकार, हरिद्वार	२०० "
४४.	श्री केवल राम चौधरी, करनाल	१०० "
४५.	श्री रामपाल शर्मा, देहरादून	१०० "
४६.	श्री नारायण दत्त विद्यालंकार	४०० "
४७.	माता महेन्द्र कौर	२०० "
४८.	डा. रोहित चौधरी, शाहजहाँपुर	१०० "
४६.	श्री ज्ञानचन्द, दिल्ली	१०० "
५०.	गुप्त	१०० "
५१.	स्वदेशपाल, २११ जनकपुरी दिल्ली	१०२ "
५२.	बहिन मीरा, अहमदाबाद	१०० "
५३.	बहिन विजय सुपुत्री श्री रामनाथ जी, लुधियाना	३०० "
५४.	माता विद्यावती गांधी	१०० "

'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' द्वारा श्रद्धा पूर्वक दान देने वाले दानी महानुभावों के सहयोग से लेखक की प्रक[illegible]त पुस्तकें-

क्र.सं.	नाम पुस्तक	प्र.सं.	द्वि.सं.	तृ.सं.	[illegible]ं.	पं.सं०
१.	प्रार्थना सुमन भाग-१	१९००	२०००	४०००	४०००	
२.	कौन चैन की नींद नहीं सौ सकते..	२०००	२०००	४०००	४०००	४०००
	ष.सं. ४००० स.सं. ४००० अं.सं. ४०००					
३.	वेद सुधा, भाग-१	२०००	४०००	४०००		
४.	विदुर जी की दृष्टि से बुद्धिमान् कौन? भाग-१	२०००	४०००	४०००	४०००	
५.	महान् विदुर के महान् उपदेश	२०००	४०००	४०००		
६.	वेद सुधा, भाग-२	२०००	४०००	४०००		
७.	विनय सुमन, भाग-१	२०००	४०००	४०००		
८.	प्रार्थना प्रदीप, भाग-१	२०००	४०००	४०००		
९.	प्रार्थना प्रसून भाग-१	२०००	४०००	४०००		
१०.	प्रार्थना सुमन, भाग-२	२०००	४०००	४०००		
११.	विनय सुमन, भाग-२	२०००	४०००	४०००		
१२.	अनन्त की ओर	२०००	४०००	४०००	४०००	४०००
१३.	वैदिक पुष्पांजलि, भाग-१	२०००	२०००			
१४.	वैदिक पुष्पांजलि, भाग-२	२०००				
१५.	वैदिक पुष्पांजलि, भाग-३	२०००				
१६.	वैदिक पुष्पांजलि, भाग-४	४०००				
१७.	वैदिक गृहस्थ आश्रम (सुखी) गृहस्थ-दाम्पत्य जीवन	३०००	४०००	४०००	४०००	४०००
१८.	प्रभात वन्दन	३०००	४०००			
१९.	शयन विनय	४०००	४०००			
२०.	वेदोपदेश, भाग-१	४०००	३०००	४०००		
२१.	वैदिक रश्मियाँ भाग-१	४०००	४०००			
२२.	विनय सुमन, भाग-३	३०००	४०००			
२३.	विदुर जी की दृष्टि में बुद्धिमान् कौन? भाग-२	४०००	४०००	४०००		
२४.	वैदिक आदर्श परिवार, भाग-१	३०००	४०००			

२५. वैदिक रश्मियाँ, भाग-२ ३००० ४०००
२६. ब्रह्मयज्ञ (वैदिक संध्या) ४००० ४०००
२७. वैदिक रश्मियाँ, भाग-३ ३००० ४०००
२८. पावमानी 'वरदा वेदमाता' ४००० ४०००
२९. यम-नियम (१) ४००० ४०००
३०. (जीवन गाथा, माता भागवंती जी) ४००० ३००० ४०००
३१. ईशोपनिषद ४००० ४००० ४०००
३२. नचिकेता के तीन वर ४००० ४०००
३३. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद ४००० ४०००
३४. यज्ञ सुधा ४००० ४०००
३५. पावन धारा ४००० ४०००
३६. कहाँ है वह? ४००० ४०००
३७. वैदिक रश्मियाँ, भाग-४ ४००० ४०००
३८. भक्ति भरे भजन-एक लघु संग्रह ४००० ४०००
३९. केनोपनिषद ४०००
४०. अष्टांग योग ४००० ४०००
४१. यज्ञ सुधा (संक्षिप्त) ४०००
४२. क्रिया योग ४००० ४०००
४३. श्रद्धा ४००० ४०००
४४. दैनिक अग्निहोत्र-अर्थ, व्याख्या ४०००
४५. 'दान दिये धन ना घटे' ४००० ४०००
४६. जुआ मत खेलो, पुरूषार्थ करो, ४०००
४७. वैदिक रश्मियाँ, भाग-५
४८. कौन तुझे भजते है? ४००० ४०००
४९. सुख का धाम, स्वर्गाश्रम-गृहस्थाश्रम ४००० ४०००
५०. भक्त और भगवान् ४०००
५१. वेदाध्ययन भाग-१ ४०००
[illegible] ४०००
[illegible] ० ४०००
[illegible] कर। ४०००
[illegible] यम नियम भाग-२)४०००
[illegible] वार भाग-२ ४०००
६४. नित्यकर्म विधि ४०००

वेदरत्न
प्रो०-रामप्रसाद वेदालं

भू०पू० उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

जन्म तिथि- ७-१-१९३६।

जन्म स्थान- थाना, मलाकण्ड एजेन्सी, जिला-मरदान, फ्रन्टीयर (वर्तमान पाकिस्तान)

पिता का नाम-श्री गंगाविशन जी।

प्रचारकार्य- उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल, जम्मु, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, (मुम्बई), गुजरात, नेपाल एवं अमेरिका आदि।

अध्यापन- दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर, गुरुकुल झज्झर (हरियाणा), गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, भू०पू० प्रोफेसर वेद विभाग, भू०पू० उपकुलपति, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार। डेढ़ वर्ष कुलपति पद पर कार्य किया।

लेखन प्रकाशन- ५६ पुस्तकें एवं पत्रिकाओं में लेख आदि। आठ आडियो, एक विडियो कैसेट।

सम्मान एवं पुरस्कार- (१) आचार्य गोवर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार १९८१ से सम्मानित एवं पुरस्कृत, द्वारा संगढ़ विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर।

(२) आर्य साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में सम्मानित एवं पुरस्कृत (१९८३) द्वारा- महर्षि दयानंद निर्वाण शताब्दी समारोह समिति, अजमेर (राजस्थान)

(३) वेदरत्न-(मानद उपाधि, १९८४ में। द्वारा- विश्ववेद परिषद)

(४) शान्ति पुरस्कार से सम्मानित एवं पुरस्कृत (१५-८-१९९३) द्वारा आर्य समाज शालिम बाग, दिल्ली।

(५) आर्य समाज की सराहनीय सेवा के लिये स्वामी शिवमुनि परिब्राजक की स्मृति में सम्मानि पुरस्कृत, द्वारा- दयानन्द सुखरानी ट्रस्ट, उमरी, कानपुर।

(६)आर्य समाज बी.एच.ई.एल., हरिद्वार में १४.७.९६ को वेद की विशिष्ट सेवा के लि अभिनन्दित, पुरस्कृत।

(७) वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशिष्ट सेवाओं के लिये सम्मानित, पुरस्कृत। द्वारा- वैदिक यज्ञसमिति सोनीपत (हरियाणा)

(८) निर्धन निकेतन हरिद्वार में २९.७.९६ को सन्त सम्मेलन एवं विद्वत्सभा में वैदिक विद्वान् के रूप में अभिनन्दित, पुरस्कृत।